* श्री गीतामञ्जरी *

अर्थात्—

श्रीमद्भगवद्गीता का हिन्दी पद्यानुवाद

लेखक व प्रकाशक—

ब्रह्मचारी प्रभुदत्त शास्त्री

श्रीभगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी (पञ्जाब)

*श्री

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रेम सहित इसके

अनु

ब्रह्म

श्रीभगवद्गी

द्वितीय संस्करण

१०००

All

ॐ

* श्री गीतामञ्जरी *

अर्थात्—

श्रीमद्भगवद्गीता का यह अविकल सरस सरल अनुवाद।
प्रेम सहित इसके पढ़ने से मिट जायेंगेसकल विषाद ॥

अनुवादक तथा प्रकाशक—

ब्रह्मचारी प्रभुदत्त शास्त्री

श्रीभगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी (पञ्जाब)

द्वितीय संस्करण	जून	मूल्य
१०००	१९४१	॥=)

All rights reserved.

समर्पण

तुम्हारी गीता का यह ज्ञान, तुम्हारे अर्पण है भगवान।
गीता अद्भुत गहन गम्भीर, समझें विरले सन्त सुधीर॥
जिनको हुवा तुम्हारा ज्ञान ॥१॥

जैसा मेरी मति में आया, मैंने वही भाव दरशाया।
इसमें तुम ही स्वयं प्रमान ॥२॥

हृदयमें नहीं भावना भक्ति, नहीं कुछ करने की है शक्ति।
शरण हूं बालक दीन अजान ॥३॥

आपकी आज्ञा के अनुसार, भेट है यह मेरा उपहार।
इसे अपनाओ कृपा निधान ॥४॥

जय जय केशव करुणाकन्द, सद्गुरु पूरण परमानन्द।
प्रभुवर ! दो भक्ति वरदान ॥५॥

विनीत--प्रभु

भूमिका

सहृदय पाठकवृन्द, श्रीभगवद्गीता का आज सर्वत्र प्रचार है। अनन्त भाषाओं में यह ग्रन्थ अनुवादित हो चुका है और दिन दूना रात चौगुना इस का प्रचार बढ़ता ही जा रहा है, यह हर्ष की बात है। श्रीभगवान् की प्रेरणा से मैंने भी श्रीगीता जी का यह पद्याऽनुवाद गीता प्रेमी जनों के विनोदार्थ प्रस्तुत किया है। श्री १०८ ब्रह्मलीन परमहंस सद्गुरुदेव श्रीस्वामी परमानन्द जी महाराज के चरणों में अनन्तवार प्रणाम है जिनकी अनन्त कृपा से मुझे यह योग्यता प्राप्त हुई और इस विषय में मेरी प्रवृत्ति हुई। विषय अति गंभीर है जिसके सम्पादन में मेरी मति अति मन्द है तथापि हिन्दी जानने वाले गीता प्रेमियों को अविकल सरस सरल छन्दों में गायन द्वारा गीता अमृत पान कराने की अभिलाषा से प्रेरित होकर ही यह अनुवाद किया है। एक श्लोक का एक ही छन्द में अधिक से अधिक सरल और संक्षिप्त एवं यथार्थ भाव दर्शाने का प्रयत्न किया है। भाषा शुद्ध रखने की भी पूर्ण चेष्टा की है। अनुवाद कैसा बना यह आप ही निर्णय करेंगे। इसकी त्रुटी यदि विदित करेंगे तो नूतन संस्करण में शोधन करने का प्रयत्न किया जायगा। आशा है पाठक इसे अपना कर मेरे प्रयत्न को सफलीभूत करेंगे। —अनुवादक

गीता माहात्म्य

भवसागर पार उतरने को गीता नौका सुखकारी है।
इसलिये पढ़ो श्रीगीता यह सब संकट मोचनहारी है॥
गीता सम कोई शास्त्र नहीं यह सबका सार कहाती है।
श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दने इसको स्वयं उचारी है॥१
गोरूप उपनिषद् हैं सारी दुहने वाले हैं बनवारी।
हैं पार्थ वत्स यह दुग्धामृत बुधजन मति निर्मलकारी है॥२
जिस घरमें गीता शास्त्र नहीं वह घर शमशान बराबर है।
वहां रहते हैं भगवान् स्वयं जहां उनकी गीता प्यारी है॥३
जो पढ़ें सुनें भगवद्गीता या प्रेम पूर्वक गाते हैं।
हर त्रिविध ताप उनको गीता सब विधि मुद मंगलकारी है।४
गीता है ज्ञान समुद्र भरा सब शास्त्र नदी नालों सम हैं।
इसमें सब लय होते इससे गीता की महिमा भारी है॥५
जप तप व्रत नियम करे न करे पर गीता का अभ्यास करे।
सब पापोंसे निर्मुक्त हुवा वह मुक्ती का अधिकारी है॥६
इस गीता रूपी नौका से कितने ही अब तक पार हुये।
कितने ही जीवों की इसने भव आपद अब तक टारी है॥७
यह गीतामञ्जरी गीता का गायन में है अनुवाद सरल।
प्रभु प्रेम पूर्वक पढ़ो इसे यह सबको अति उपकारी है॥८

गीता मंजरी पर कुछ सम्मतियां

अद्य ब्रह्मचारि श्री प्रभुदत्त शास्त्रिणामभिनवामिव कृतिमिमाम्मञ्जुल गीतामञ्जरीं लोचनपथमानयतः "वाग्जन्म वैफल्यमसह्यशल्यङ्गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्" इति स्मरतश्च मम मुखात् प्रसह्य निःसरन्त्येव द्वित्राः शब्दाः—

"कामं सन्तु बहूत्तमा हि सुधियां गीतानुवादाः परम्,
यत्रास्तेऽविकलानुवादसरणिः सेयन्नवा मञ्जरी।
वर्णि श्रीप्रभुदत्तनिर्मितिमिमामालोक्य सम्प्रार्थये,
गीतासत्फलमीप्सयाऽखिलजनैः सेव्या सदा मञ्जरी॥"

"मन्ये भारतवर्ष! साम्प्रतमहो! गर्वोन्नतन्ते शिरः।
तत्वं लोपमवाप यत्तव पुरा भूय स्तदुद्धार्यते।
स्यात् किन्नाम यथार्थमद्य न विभोरानन्दकन्देति"ते।
भक्तेन प्रभुणा कृता तव यतो गीतान्तरे मञ्जरी॥

भगवतोऽनुकम्प्यः—

शिवराम शर्मा शास्त्री, साहित्याचार्य "प्रभाकर"

प्रधानाध्यापक—श्रीरघुनाथ सं० विद्यालय, सूरजगढ़ जयपुर

श्री १०८ श्री स्वामी ज्ञानानन्द जी महाराज

संस्थापक-भारतधर्म महामण्डल (काशी) की **सम्मति**

आपका गीताऽनुवाद देख कर बहुत प्रसन्नता हुई। आपकी तपस्या पूर्ण हो अनुवाद सुन्दर है।

श्रीमान् जयदयाल जी गोयन्दका की सम्मति

श्री पूज्यवर पं० श्रीप्रभुदत्त जी शास्त्री !

सादर प्रणाम।

आपने अपनी लिखी हुई पद्यात्मक गीता भेजी, सो बड़ी कृपा की। पुस्तक का कुछ अंश देखा है। पुस्तक बहुत अच्छी है। यथा साध्य गीता के भावों को छन्दो बद्ध करने का आपने काफी प्रयत्न किया है आपका परिश्रम सराहनीय है।

आपका—

जयदयाल गोयन्दका

श्री गीतामञ्जरी

अर्थात्—

श्रीमद्भगवद्गीता का अविकल पद्यानुवाद

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

राजा धृतराष्ट्र ने पूछा—

पुण्यधाम शुभ कुरुक्षेत्र में,
हो एकत्र समर की धार। (ठानकर)
करते हुये कहो क्या संजय !
मेरे सुत औ पाण्डु-कुमार ॥१॥

संजय ने कहा—

पाण्डवदल को व्यूह रचाये,
खड़ा देख करके तत्काल।
जाकर द्रोणाचार्य निकट यों,
बोले दुर्योधन भूपाल॥२॥
गुरुवर ! देखो पाण्डुसुतों ने,
अद्भुत सैन्य सजाया है।

द्रुपद-पुत्र तव चतुर-शिष्य ने,
जिसका व्यूह रचाया है ॥३॥
महाधनुर्धर शूरवीर हैं,
इसमें अर्जुन भीम समान।
नृप विराट, युयुधान, द्रुपद हैं,
सब ही महारथी बलवान ॥४॥
धृष्टकेतु अरु चेकितान है,
काशिराज हैं अति बलवान।
पुरुजित हैं औ कुन्तीभोज हैं,
शैव्य नरों में उत्तम जान ॥५॥
युधामन्यु अति शूरवीर है,
तथा उत्तमौजा बलवान्।
सकल द्रौपदीसुत, अभिमन्यू,
सब ही महारथी धीमान् ॥६॥
और हमारी सेना में जो,

हैं विशेष योधा बलधाम।
उन सेनापतियों के भी हे-
द्विजवर! बतलाता हूं नाम॥७॥
आप, भीष्म हैं तथा कर्ण हैं,
कृपाचार्य रण-जेता हैं।
अश्वत्थामा अरु विकर्ण पुनि,
सोमदत्त-सुत नेता हैं॥८॥
और बहुत से शूर समुद्यत-
हैं मम हित तजने को प्रान।
नाना शस्त्र चलाने वाले,
सभी युद्ध में निपुण महान॥९॥
भीष्म पितामह से रक्षित यह,
सैन्य हमारा है निःसीम।
इनकी सेना तो सीमित है,
जिसका सेनापति है भीम॥१०॥

व्यूह-प्रवेश-मार्गों पर डट-
जाओ निज-नियुक्ति-अनुसार।
भीष्म पितामह की रक्षा का,
यत्न करो मिल सभी प्रकार॥११॥

दुर्योधन को हर्षित करते-
हुये पितामह ने तत्काल।
वेगि बजाया सिंहनाद कर,
उच्च स्वर से शंख विशाल॥१२॥

शंख, पणव, आनक, गोमुख अरु,
बजी भेरियां तब चहुँ ओर।
सहसा इनका तुमुल शब्द फिर,
गूंज उठा होकर अति घोर॥१३॥

तब सफेद घोड़ों वाले निज,
महान रथ में बैठे साथ।
लगे बजाने दिव्य शंख फिर,

दोनों-पार्थ और यदुनाथ॥१४॥
अर्जुन लेकर देवदत्त को,
पाञ्चजन्य को श्री भगवान्।
पौंड्र नाम के महाशंख को,
लगे बजाने भीम महान्॥१५॥
कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर नृप ने,
फूंका शंख अनन्त विजय।
शंख सुघोष नकुल ने तैसे,
मणिपुष्पक सहदेव अजय॥१६॥
काशीराज महा-धनुधारी,
तथा शिखण्डी महारथी।
धृष्टद्युम्न विराट महीपति,
और सात्यकी अजयरथी॥१७॥
राजा द्रुपद, द्रौपदी के भी,
सकल कुमारों ने भूपाल!

महाबाहु अभिमन्यु सभी ने,
फूंके निज निज शंख विशाल ॥१८॥
उस गम्भीर घोष ने कौरव-
गण का हृदय विदार दिया ।
महा भयंकर हो करके फिर,
भू-नभ को गुञ्जार किया ॥१९॥
तदनन्तर अर्जुन ने देखा,
कौरवगण को हुवा तयार ।
संभला स्वयं उठाया उसने,
रण हित अपना धनुष सुधार ॥२०॥
राजन् ! हृषीकेश को ऐसे,
अर्जुन ने फिर कहा निदान ।
अर्जुन बोले—
मेरे रथ को उभय दलों के,
बीच ले चलो हे भगवान ॥२१॥

युद्ध-कामना से स्थित इनको,
जब तक मैं देखूँ यदुनाथ।
इस रण में लड़ना है मुझ को
किन किन योद्धाओं के साथ ॥२२॥

दुष्टमती दुर्योधन के हित,
जो लड़ने आये हैं आज।
उसका प्रिय करने के इच्छुक,
उन्हें देख तो लूं यदुराज ॥२३॥

संजय बोले—

अर्जुन के ऐसे कहने पर,
हृषीकेश फिर हे भूपाल?
उत्तम रथ को उभय दलों के,
बीच खड़ा करके तत्काल ॥२४॥

भीष्म, द्रोण, सकल राजाओं-
के सन्मुख उससे यह बात-

कहने लगे, देखले सारे,
जुटे हुए कुरुदल को तात !॥२५॥
देखे वहां खड़े अर्जुन ने,
पिता पितामह अरु आचार्य।
मामे, भाई, बेटे, पोते,
तथा मित्रमण्डल सब आर्य॥२६॥
दोनों सेनाओं में ही निज,
श्वसुरों को, सुहृदों को जान।
उन सब बन्धुजनों को अर्जुन,
वहां स्थित हुये देख निदान॥२७॥
अतिशय करुणाव्याप्त दुखितमन,
इस प्रकार बोला तत्काल।
रण अभिलाषी इन स्वजनों को,
खड़े देख कर हे गोपाल !॥२८॥
मेरे अंग शिथिल होते हैं,

मुख भी सूखा जाता है।
होता है रोमाञ्च थरथरा-
हट से तन थर्राता है॥२९॥
खिसक रहा गाण्डीव हाथ से,
चर्म जला ही जाता है।
मैं न खड़ा रह सकता हूं मन-
मेरा चक्कर खाता है॥३०॥
और शकुन भी अब तो उलटे,
देख रहा हूं मैं भगवान!
रण में स्वजन मार कर मुझको,
कुछ भी भला न पड़ता जान॥३१॥
नहीं चाहता राज्य, विजय मैं,
नहीं जगत के सुख भगवान!
कौन प्रयोजन राज्य भोग से,
तथा कृष्ण! रखने से प्रान॥३२॥

इच्छा थी शासन की, सुख की,
या भोगों की जिनके हेत।
वे ही त्याग प्राण, धन-आशा,
खड़े हुये हैं रण के खेत॥३३॥
बूढ़े बड़े, पुत्र पौत्रादिक,
तथा पितामह अरु आचार्य।
मामे, साले, श्वसुरवृन्द ये,
सब सम्बन्धी प्रियजन आर्य॥३४॥
मैं न चाहता इन्हें मारना,
भले करें ये मुझ पर घात।
चाहे राज्य मिले त्रिभुवन का,
भूमि मात्र की तो क्या बात॥३५॥
आततायि धृतराष्ट्र सुतों का,
वध करके हमको भगवान्!
क्या प्रसन्नता होगी इसमें,

निश्चय होगा पाप महान्॥३६॥
इससे उचित नहीं यह हमको,
करें स्वबान्धव जन संहार।
कैसे सुखी रहेंगे माधव!
हम रण में स्वजनों को मार॥३७॥
यद्यपि नहीं देखते हैं ये,
लोभ विवश होकरके आप।
कुल के क्षय में दोष कौन है,
मित्र-द्रोह में है क्या पाप॥३८॥
इस पातक से बचने का फिर,
हम भी क्यों नहिं करें विचार।
वंश-नाश से होने वाले,
दोषों को जब रहे निहार॥३९॥
कुल के क्षय से मिट जाते हैं,
कुल के सकल पुरातन धर्म।

धर्म नाश से सारे कुल को,
लेता है फिर घेर अधर्म ॥४०॥
पापवृद्धि से कुल ललनायें,
होती हैं दूषित भगवान।
वार्ष्णेय ! उन दुष्टाओं से,
होती है संकर सन्तान ॥४१॥
कुलघाती औ कुल दोनों की,
नरक हेतु है वह सन्तान।
तर्पण, पिण्ड-क्रिया मिटने से,
पितर पतित होते भगवान ॥४२॥
कुलघाती के संकर करने-
वाले, इन दोषों से नाथ !
जाति-धर्म, कुल-धर्म सदा के,
होते नष्ट सभी इक साथ ॥४३॥
जिन पुरुषों के कुल धर्मों का,

केशव ! होता मूल विनास ।
सुनते हैं होता है उनका,
अनियत काल नरक में वास ॥४४॥
अहह खेद है घोर पाप अब,
करने को हम हुये तयार ।
जो सुख राज्य लोभ के कारण,
करने लगे स्वजन संहार ॥४५॥
बदला लिये विना ही मुझको,
शस्त्रहीन को लेकर बाण ।
धार्तराष्ट्र दें मार युद्ध में,
तब मेरा होवे कल्याण ॥४६॥
पेसे कह कर अर्जुन रण में,
हुवा शोक से विकल अधीर ।
रथ के ऊपर बैठ गया फिर,
त्याग दिये कर से धनु-तीर ॥४७॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।

* अथ द्वितीयोऽध्यायः *

संजय बोले—

इस प्रकार से दयायुक्त उस,
अश्रुप्रपूरित व्याकुल नैन ।
दुखित-हृदय अर्जुन से बोले,
श्री मधुसूदन ऐसे बैन ॥१॥

श्रीभगवान् बोले—

तुझे कहां से विषम समय में,
ऐसा मोह हुवा यह आर्य ।
नरक अयश देने वाला यह,
इसे सेवते लोग अनार्य ॥२॥
कायरता मत करो वीर यह,
तुमको उचित नहीं है काम ।
मन की लघु दुर्बलता को तज,

उठ कर पार्थ! करो संग्राम ॥३॥

अर्जुन बोले—

कैसे भीष्म पितामह से औ,
द्रोण गुरू से हे भगवान्।
बाणों द्वारा युद्ध करूँगा,
ये हैं मेरे पूज्य महान् ॥४॥

अर्थकामना वाले अपने,
गुरूजनों के लेकर प्रान।
रुधिर सने सुख भोग भोगने-
से तो अच्छा हे भगवान!

पूजनीय इन गुरू जनों का,
रण में किये बिना संहार।
जीवन का निर्वाह करें हम,
भिक्षा वृत्ती का स्वीकार ॥५॥

कौन श्रेष्ठ हैं हम में केशव!

यह भी हमको ज्ञात नहीं।
हम जीतें या ये जीतेंगे,
यह भी निश्चित बात नहीं॥
जीना नहीं चाहते हैं हम,
जिनका वध करके यदुराज।
वे धृतराष्ट्रपुत्र मरने को,
सन्मुख खड़े हुये हैं आज॥६॥
दैन्यदोष से नष्ट हुवा है,
मेरा निज का सारा ज्ञान।
धर्म विवंचन में विमूढ़ मन,
तुम्हें पूछता हूँ भगवान!
जो निश्चित कल्याणमार्ग हो,
मुझे बताओ वह यदुराज!
शरणागत हूँ शिष्य आपका,
मुझे करो अनुशासन आज॥७॥

शत्रु रहित सम्पन्न भूमि का,
पा करके सारा साम्राज्य ।
बन जाऊँ मैं यद्यपि स्वामी,
देवलोक का पाकर राज्य ॥
तो भी नहीं देखता हूँ मैं,
ऐसा कोई उचित उपाय ।
जिससे इन्द्रियगण का शोषक,
मेरा शोक नष्ट हो जाय ॥८॥

संजय बोले--

ऐसे कह कर हृषीकेश को,
निद्राजित अर्जुन भूपाल !
'नहीं करूँगा युद्ध' इस तरह,
कह कर मौन हुवा तत्काल ॥९॥
राजन् ! दोनों सेनाओं में,
व्याकुल हुवा पार्थ को जान ।

मन्द मन्द मुसकाते से यों,
बोले कृष्णचन्द्र भगवान ॥१०॥

श्रीभगवान् बोले—

शोक अशोचनीय का करता,
तथा ज्ञान की करता बात।
मरे तथा जीते प्राणी का,
पण्डित शोक न करते तात!॥११॥

मैं तू और सकल ये राजा,
पहले क्या न हुये मतिमान!
तथा न हम सब आगे होंगे,
ऐसा भी अर्जुन! मत जान ॥१२॥

बाल, युवापन, जरा अवस्था,
होती ज्यों इस तन में वीर!
तैसे देह बदल जाता है,
इससे मुग्ध न होते धीर ॥१३॥

शीत उष्ण दुःख सुखदायक,
इन्द्रियगण के भोग पिछान ।
इन्हें सहन कर, हैं अनित्य ये,
आते जाते वीर सुजान ! ॥१४॥
जिसको ये न दुखी करते हैं,
हे पुरुषों में उत्तम वीर !
हों समान सुख दुःख जिसे वह,
मोक्ष योग्य होता है धीर ॥१५॥
सत् का कभी अभाव नहीं हो,
नहीं असत् का होता भाव ।
तत्व जानने वालों ने है,
इनका किया यही ठहराव ॥१६॥
जिसने यह सब व्याप्त किया है,
उसको तू अविनाशी जान ।
इस अव्यय का नाश न कोई,

कर सकता है पार्थ सुजान ॥१७॥
नित्य अनाशी अप्रमेय इस,
देही के ये देह सुजान !
नाशमान हैं इस कारण हे–
भारत ! लड़ने की अब ठान॥१८॥
मरने और मारने वाला.
जो इसको लेते हैं मान ।
यह न मारता ना मरता है,
इसका उन्हें नहीं है ज्ञान ॥१९॥
नहीं जन्मता तथा न मरता,
होकर न हो नहीं यह बात ।
शाश्वत नित्य पुरातन अज यह,
तनवध से नहिं इसका घात ॥२०॥
इसको अज अव्यय अविनाशी,
तथा नित्य जो लेता जान ।

वह कैसे किस को मरवावे,
अथवा मारे पार्थ सुजान! ॥२१॥
जैसे त्याग जीर्ण वस्त्रों को,
नर नवीन पट लेता धार।
तैसे त्याग जीर्ण तन देही,
करता अन्य देह स्वीकार ॥२२॥
काट न सकते शस्त्र इसे हैं,
पावक नहीं जलाता है।
वायु नहीं सुखा सकता है,
जल भी नहीं गलाता है ॥२३॥
यह न कट सके, जले न सूखे,
तैसे ही यह सके न गल।
है यह नित्य सनातन सर्व-
व्यापक अरु कूटस्थ अचल ॥२४॥
यह अव्यक्त अचिन्त्य रूप है,

इसको कहते रहित विकार ।
इस प्रकार से इसे जान कर,
शोक न कर हे पाण्डुकुमार ! ॥२५॥
अथवा नित्य जन्मता मरता,
ही इस को माने तू वीर ?
तौ भी तुझे उचित है इसका,
शोक न करना ही रणधीर ? ॥२६॥
निश्चय, मरा जन्म लेता है,
जो जन्मा सो मरता है ।
यह तो अटल नियम है फिर तू,
वृथा शोक क्यों करता है ॥२७॥
हैं अव्यक्त आदि में प्राणी,
होते व्यक्त मध्य में तात !
अन्त समय अव्यक्त रहेंगे,
इस में कौन शोक की बात ॥२८॥

कोई इसे चकित सा देखे,
अद्भुत अन्य बताता है।
अन्य चकित सा सुनता फिर भी,
कोई जान न पाता है ॥२९॥
आत्मा नित्य अमर है सब के,
देहों में हे पार्थ सुजान!
इससे सकल प्राणियों का तू,
मनमें कुछ भी शोक न मान॥३०॥
तू निज-धर्म देख कर भी तो,
अर्जुन! इतना भय मत मान।
धर्म युद्ध सम और दूसरा,
नहीं क्षत्रियों का कल्यान ॥३१॥
दैवयोग से प्राप्त हुवा यह,
तुझ को खुला स्वर्ग का द्वार।
भाग्यवान क्षत्रिय पाते हैं,

ऐसे रण को पाण्डु-कुमार ! ॥३२॥
अर्जुन ! यदि तू नहीं करेगा,
यह धर्मानुकूल संग्राम ।
पापी होगा धर्म गंवा कर,
जग में होवेगा बदनाम ॥३३॥
तथा न मिटने वाला तेरा,
लोग करेंगे अपयश गान ।
जग में मान्य पुरुष की निन्दा,
मरने से भी बढ़कर जान ॥३४॥
महारथी मानेंगे तुझ को,
रणसे विमुख हुवा भय मान ।
जिनसे सम्मानित था पहिले,
उन से पायेगा अपमान ॥३५॥
कह दुर्वचन शत्रु तव बल की,
निन्दा बहुत करेंगे तात !

इससे बढ़कर और जगत् में,
होगी कौन दुःख की बात ॥३६॥
तू यदि मरे, स्वर्ग पावेगा,
जीता तो भोगेगा राज ।
इससे निश्चय करके अर्जुन ?
उद्यत हो लड़ने को आज ॥३७॥
हानि, लाभ, सुख, दुःख, पराजय,
तथा विजय को जान समान ।
फिर रण में जुट जा तू ऐसे,
पाप न होगा पार्थ सुजान ? ॥३८॥
यह तो सांख्यबुद्धि बतलाई,
अब सुन योगबुद्धि की बात ।
जिस सुबुद्धि से युक्त हुवा तू,
कर्म फांस तज देगा तात ! ॥३९॥
इसमें किया नहीं मिटता है,

नहीं विघ्न की कोई बात ।
थोड़ा भी यह धर्म महाभय-
से रक्षा करता है तात ! ॥४०॥
दृढ़ निश्चय वाली मति जग में,
कुरुनन्दन ! होती है एक ।
अनिश्चयी पुरुषों की मतियां,
भेद भाव युत तथा अनेक ॥४१॥
वेद वाद में निरत हुये जो-
जन अर्जुन ! अज्ञानी हैं ।
'इससे अन्य नहीं कुछ भी' यूं,
कहते मीठी बानी हैं ॥४२॥
नाना कर्म-जनित हैं जग में,
जन्मादिक ऐश्वर्य सुभोग ।
स्वर्ग प्राप्ति के इच्छुक ऐसे,
कहते काम्यबुद्धि के लोग ॥४३॥

इस बाणी से मुग्ध हुये जो,
धन भोगों में हों आसक्त ।
उनकी निश्चल मति समाधि में,
कभी नहीं होती है युक्त ॥४४॥
वेदों के हैं विषय तीन गुण,
तू बन त्रिगुणातीत सुजान !
द्वन्द्व रहित हो योग क्षेम तज,
आत्मनिष्ठ नित सत्व-प्रधान ॥४५॥
सभी ओर जल के होने पर,
जितना कूप प्रयोजन जान ।
उतना ही ज्ञानी जन को है,
उपयोगी वेदों का ज्ञान ॥४६॥
है अधिकार कर्म में तेरा,
किन्तु नहीं फल में अधिकार ।
फल प्रेरित हो कर्म न कर तू,

तथा न निज कर्तव्य विसार ॥४७॥

योगस्थित हो, संग त्याग कर,
कर्मों को कर तू हे पार्थ !
सिद्धि असिद्धी में सम होकर,
समता ही है योग यथार्थ ॥४८॥

है निष्काम कर्म से अतिशय-
तुच्छ सकाम कर्म का योग ।
अतः पार्थ ! ले शरण बुद्धि की,
कृपण चाहते हैं फल भोग ॥४९॥

जग में पाप पुण्य दोनों को,
तज देते हैं ज्ञानी लोग ।
इस से योग कर्म में जुट जा,
कर्म चतुरता ही है योग ॥५०॥

मतिसंयुक्त मनीषी निश्चय,
करके कर्म-जन्य-फल त्याग ।

जन्म मरण के बन्धन से छुट,
मोक्ष प्राप्त करते बड़भाग ॥५१॥
जब तेरी मति मोह जाल का,
सभी भांति कर देगी त्याग।
सुने तथा श्रोतव्य विषय का,
तब तुझ को होगा वैराग ॥५२॥
श्रुतिविभ्रान्त बुद्धि जब तेरी,
हो समाधि में अचल यथार्थ।
दृढ़ता से टिक जावेगी तब,
योग-सिद्धि पावेगा पार्थ ॥५३॥

अर्जुन बोला—

केशव! जो है समाधिस्थ उस-
स्थिरमति का लक्षण क्या है?
कैसी रहनी है उसकी,
किसभांति बोलता चलता है? ॥५४॥

श्री भगवान् बोले—

पार्थ ! सकल इच्छाओं को जब,
मन से दूर हटाता है ।
होता तुष्ट आप अपने में,
तब स्थितप्रज्ञ कहाता है ॥५५॥
दुख में मन उद्विग्न न होवे,
सुख की चाह मिटाता है ।
राग, क्रोध, भय तज देता वह,
मुनि स्थिरबुद्धि कहाता है ॥५६॥
जो आसक्ति रहित हो सब में,
पाकर के शुभ अशुभ निदान ।
जिस को हर्ष विषाद न होता,
उसकी प्रज्ञा को स्थिर जान ॥५७॥
जब कछुवे के अंगों के सम,
करे इन्द्रियों का संहार ।

सभी भांति इन्द्रिय-विषयों से,
उसकी प्रज्ञा को स्थिर धार ॥५८॥
निराहार देही के रस * को- *(वासना)
छोड़ विषय छुट जाते हैं।
परम ब्रह्म के दर्शन से,
उसके रस भी मिट जाते हैं॥५९॥
कुन्तीनन्दन ! विज्ञ पुरुष के,
करने पर भी यत्न हजार।
प्रमथनशील इन्द्रियां उसका,
मन हर लेतीं बलात्कार ॥६०॥
उन सब को संयम में रख कर,
मुझ में युक्त रहे मतिमान।
जिस के रहें इन्द्रियां वश में,
उसकी प्रज्ञा को स्थिर जान ॥६१॥
विषयों के चिन्तन से नर को,

विषय-संग हो जाता है।
काम संग से जन्माता फिर,
क्रोध काम से आता है ॥६२॥
क्रोध करे फिर मोह, मोह से-
स्मृति विभ्रम, उससे मतिनाश।
बुद्धि नष्ट हो जाने से फिर,
होता है सर्वस्व विनाश ॥६३॥
मन का विजयी राग द्वेष से-
रहित इन्द्रियां कर आधीन।
फिर भोगे विषयों को जो वह,
रहता प्रसन्नता में लीन ॥६४॥
जब प्रसन्नता हो तब इसके,
मिट जाते हैं सब दुख जाल।
निश्चय प्रसन्न मन वाले की,
बुद्धि स्थिर होती तत्काल ॥६५॥

नर अयुक्त*को बुद्धि न होती, *(चंचलमन)
और नहीं होता है ध्यान ।
बिना भावना शान्ति नहीं हो,
सुख अशान्त को कभी न जान॥६६॥
जब इन्द्रियां विचरती हों फिर,
मन का भी हो जाय लगाव ।
वह इसकी प्रज्ञा को हरता,
जैसे वायू जल में नाव ॥६७॥
सो इसलिये इन्द्रियां जिसकी,
सभी भांति से, हे बलवान !
रुकी हुई हैं निज विषयों से,
उसकी प्रज्ञा को स्थिर जान ॥६८॥
संयमशील जागता उसमें,
जो हो सब भूतों की रात ।
ज्ञानी मुनि की रात्रि वहीं है,

जिसमें जीव जागते तात ! ॥६९॥
अचल-स्थिति वाले परिपूरण,
सागरमें जिस भांति सुजान !
इधर उधर से आकर के सब,
जल होते हैं अन्तर्धान ।
ऐसे ही जिस ज्ञानवान में,
सकल कामनायें हों लीन ।
वही शान्ति पाता है जग में,
नहीं कामना के आधीन ॥७०॥
इच्छा रहित विचरता है जो,
सकल कामनाओं को त्याग ।
अहंकार ममता विहीन हो,
वही शान्ति पाता बड़भाग ॥७१॥
यह ब्राह्मी स्थिति है, इसको पा,
पार्थ ! नहीं रहता अज्ञान ।

अन्त समय भी स्थिर हो इसमें,
तौ भी मिले ब्रह्म-निर्वान ॥७२॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन ने कहा

आप मानते हो यदि भगवन् !
कर्मयोग से उत्तम ज्ञान।
तो क्यों घोर कर्म में मुझ को,
जुटा रहे हो हे भगवान ॥१॥

मिले जुले से बचनों से मम-
मति-भ्रम-सा करते हो तात ?
जिससे हो कल्याण प्राप्त वह,
कहो एक निश्चय से बात ॥२॥

श्री भगवान् बोले

दो प्रकार के मार्ग जगत् में,
मैंने प्रथम कहे सतिमान !

ज्ञानयोग सांख्यों का उन में,
कर्मयोग योगी का जान ॥३॥
बिना किये आरम्भ कर्म के,
हो न कभी निष्कर्म सुजान ।
अथवा कर्म त्यागने से भी,
सिद्धि न मिलती है मतिमान ! ॥४॥
क्षणभर भी जग में कोई बिन-
कर्म न रहने पाता है ।
अवश प्रकृति से जन्य गुणों से,
कर्म कराया जाता है ॥५॥
कर्मेन्द्रियां रोक कर मन से-
जो विषयों को ध्याता है ।
मूढ़ आत्मा इस जग में वह,
मिथ्याचार कहाता है ॥६॥
इन्द्रियगण को मन से वश कर,

होकर जो आसक्ति विहीन !
कर्मेन्द्रिय द्वारा कर्मों को,
करता वह है पुरुष प्रवीन ॥७॥
नहीं किये से उत्तम करना,
इससे कर तू निश्चित कर्म ।
अकर्मण्य रहने से तेरे,
सध न सके तन का भी धर्म ॥८॥
विना यज्ञ के कर्म जगत् में,
बन्धन करता है, यह जान :
अतः संग तज यज्ञ हेतु सब-
कर्मों को कर पार्थ सुजान ॥९॥
प्रथम यज्ञ के सहित प्रजा को,
रच कर बोले विधि-कर्त्तार ।
बनो समृद्ध यज्ञ से तुमको,
हो यह इच्छित-फल-दातार ॥१०॥

इससे तुम देवों को पूजो,
देव तुम्हारा रक्खें ध्यान ।
यों सन्तुष्ट परस्पर होकर,
पाओगे अतिशय कल्यान ॥११॥
यज्ञों से हो तुष्ट देवता,
देंगे तुमको इच्छित भोग ।
उन से ले, बिन दिये उन्हें जो,
भोगें वही चोर हैं लोग ॥१२॥
यज्ञ शेष भोजी सज्जन सब,
पापों से छुट जाते हैं ।
जो निज हेतु पकाते हैं वे,
अघी*पाप ही खाते हैं ॥१३॥ (*पापी)
जीव अन्न से होते हैं सब,
तथा मेघ*से होता अन्न । (*बादल)
मेघ यज्ञ द्वारा होता है,

यज्ञ कर्म से हो सम्पन्न ॥१४॥
कर्म वेद से प्रकट हुये हैं,
वेदों के वक्ता भगवान ।
अतः सर्वगत नित्य निरन्तर,
ईश्वर यज्ञों में स्थिर जान ॥१५॥
जो इस भांति प्रवृत्त चक्र का,
नहिं अनुगामी होता है ।
वह अघायु(१)इन्द्रियलम्पट निज- (१ पापायु)
जन्म व्यर्थ ही खोता है ॥१६॥
किन्तु जिसे हो आत्मप्रेम जो-
आत्मतृप्त होता मतिमान ।
आत्मा ही में तुष्ट रहे जो,
उसका कुछ कर्तव्य न जान ॥१७॥
करने तथा न करने से कुछ,
उसको लाभ न हानि यथार्थ ।

सब भूतों में उसका कुछ भी,
नहीं प्रयोजन रहता पार्थ ॥१८॥
अतः छोड़ आसक्ति निरन्तर,
करने योग्य किया कर कार्य ।
विन आसक्ति कर्म करने से,
मोक्ष प्राप्त करता है आर्य ॥१९॥
जनक आदिकों ने भी पहिले,
पाई सिद्धि कर्म से पार्थ !
लोक-लाभ को देखो तो भी,
करना ही है उचित यथार्थ ॥२०॥
वही अन्य जन करते हैं जो-
सज्जन करता है व्यवहार ।
जो प्रमाण वह कर देता है,
लोक चलें उसके अनुसार ॥२१॥
अर्जुन ! तीन लोक में मुझको,

कुछ कर्तव्य नहीं अवशेष ।
कुछ अप्राप्त नहीं पाना है,
तो भी करता कर्म अशेष ॥२२॥
मैं आलस्य-त्याग करके यदि,
करूँ नहीं कोई भी कार्य ।
सब मनुष्य मेरे ही पथ के,
अनुगामी होंगे हे आर्य ! ॥२३॥
मैं न करूँ यदि कर्म पार्थ ! तो,
सभी लोक हो जायें भ्रष्ट ।
मैं संकरकर्त्ता बन जाऊँ,
सकल प्रजा हो मुझ से नष्ट ॥२४॥
हो आसक्त मूर्ख जन जैसे,
करते हैं सब कर्म सुजान ! ।
लोक-लाभ हित अनासक्त हो,
करे तथैव कर्म विद्वान ॥२५॥

अज्ञ कर्म-आसक्त जनों की,
मति में भेद न डाले पार्थ ?
सब से कर्म करावे ज्ञानी,
करे स्वयं हो युक्त यथार्थ ॥२६॥

सारे कर्म हुआ करते हैं,
प्रकृति-गुणों से ऐसा जान ।
अहंकारवश मूढ़मती जन,
अपने को कर्ता लें मान ॥२७॥

गुण औ कर्म भिन्न हैं मुझ से,
जिसको है यह तत्त्वज्ञान ।
वह आसक्त नहीं होता है,
गुण को गुण में वर्तित जान ॥२८॥

प्रकृति गुणों से मुग्ध हुये जो,
गुण कर्मों में फँसें अजान ।
उन अल्पज्ञ-मन्द मतियों को,

विचलित करे नहीं विद्वान ॥२९॥
कर अध्यात्मभाव से अर्जुन !
मेरे अर्पण सारे काम ।
आशा, ममता, शोक त्यागकर,
उठ कर पार्थ ? करो संग्राम ॥३०॥
करते हैं अनुसरण निरन्तर,
मेरे इस मत का जो भक्त ।
दोषदृष्टि तज श्रद्धायुत वे,
होते कर्म-बन्ध से मुक्त ॥३१॥
पर जो दोषदृष्टि से मेरे,
मत को करें नहीं स्वीकार ।
सर्व ज्ञान से मूढ़ अचेतन,
उनको जग में नष्ट विचार ॥३२॥
ज्ञानी भी चेष्टा करता है,
निजी प्रकृति के ही अनुसार ।

सभी जीव हैं प्रकृति विवश फिर,
निग्रह का है कौन विचार ॥३३॥
प्रति इन्द्रियका निज विषयों में,
राग द्वेष है नित्य सुजान !
नके वश में कभी न आवे,
ये हैं इसके शत्रु महान ॥३४॥
साधु आचरित अन्य धर्म से,
निर्गुण भी निज धर्म महान ।
मरना भी उत्तम स्वधर्म में,
पर परधर्म भयंकर जान ॥३५॥

अर्जुन बोला—

किस से प्रेरित हुवा पुरुष यह,
बिन इच्छा भी अपने आप ।
बल से बाध्य किये की नांई,
वार्ष्णेय ! करता है पाप ? ॥३६॥

श्री भगवान् बोले—

यह है काम क्रोध है यह ही,
इसको रज से जन्मा जान ।
अतिभोजी है अतिपापी है
जग में शत्रु यही बलवान ॥३७॥

जैसे अग्नि धूम से दर्पण–
मल से आवृत रहे सुजान !
जैसे गर्भ जेर से ऐसे,
नर का ढका काम से ज्ञान ॥३८॥

यह है सदा शत्रु ज्ञानी का,
ढक रक्खा है उसका ज्ञान ।
कुन्तीनन्दन ! कामरूप यह,
तृप्त न होवे अनल समान ॥३९॥

सकल इन्द्रियां बुद्धि और मन,
इसके रहने के हैं स्थान ।

इन से मोहित कर लेता है,
देही को ढक करके ज्ञान ॥४०॥
सो तू प्रथम इन्द्रियों को निजा-
वश में करके पाण्डुकुमार !
पाप रूप, विज्ञान, ज्ञान के-
इस हरने वाले को मार ॥४१॥
देहादिक से परे इन्द्रियां,
प्रबल इन्द्रियों से मन जान ।
मन से परे बुद्धि है उससे-
भी है आत्मा परम-महान ॥४२॥
ऐसे मति से परे आत्म को-
जान आत्म से मन को मार ।
कामरूप इस दुर्जय रिपु का,
महाबाहु ? करदो संहार ॥४३॥

इति तृतीयोऽध्यायः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

मैंने कहा सूर्य को पहले,
यह अविनाशी योग महान।
तथा सूर्य ने मनु को, मनुने–
इक्ष्वाकू को किया बखान ॥१॥
ऐसे एक दूसरे द्वारा,
राजऋषि जाने यह योग।
हुवा लोक में पार्थ नष्ट वह,
महाकाल का पा संयोग ॥२॥
वही पुरातन योग आज यह,
मैंने तुझे सुनाया है।
तू मम भक्त, सखा है इससे,
उत्तम भेद लखाया है ॥३॥
अर्जुन ने कहा—
जन्म आपका तो है अबका,

रवि का अति प्राचीन महान ।
कहा आदि में तुम इसको,
कैसे यह मानूं भगवान् ! ॥४॥

श्री भगवान् बोले—

मेरे अरु तेरे कितने ही,
बीत चुके हैं जन्म सुजान !
उन्हें जानता हूँ मैं सब को,
अर्जुन ! तुझे नहीं है ज्ञान ॥५॥

जन्म रहित यद्यपि अव्यय हूं,
सब भूतों का ईश सुजान !
निजी प्रकृति में स्थित होतो भी,
माया से जन्मूं यह जान ॥६॥

जब २ धर्म क्षीण होता है,
बढता है पापों का भार ।
तब तब ही भारत ! होता है,
धर्म हेतु मेरा अवतार ॥७॥

साधु जनों की रक्षा के हित,
दुष्टों का करने संहार ।
धर्म स्थापना करने को युग,
युग में लेता हूँ अवतार ॥८॥
मेरे जन्म, कर्म हैं दैवी,
ऐसा जो ले जान यथार्थ ।
देह त्याग फिर नहीं जन्मता,
मुझे प्राप्त होता वह पार्थ ! ॥९॥
राग, क्रोध, भय रहित हुये पुनि,
मत्पर औ मेरे आधीन ।
ज्ञान तपस्या से शुचि होकर,
हुये अनेकों मुझ में लीन ॥१०॥
मैं उनको वैसे ही भजता,
जो जैसे मुझ को पाते हैं ।
मेरे ही हैं मार्ग सकल जिन,

से भी मानव आते हैं ॥११॥
कर्म सिद्धि की अभिलाषा से,
जग में देव पूजते लोग ।
क्योंकि शीघ्र ही मर्त्य लोकमें,
मिलते कर्म फलों के भोग ॥१२॥
मैंने ये गुण, कर्म-भेद से,
चारों वर्ण रचे मतिमान ! ।
उनके कर्त्ता को भी अर्जुन !
मुझे अकर्त्ता अव्यय जान ॥१३॥
मुझे न इच्छा कर्म फलों की,
मुझ में कर्म न होते लिप्त !
इस प्रकार जो मुझे जानता,
वह कर्मों से रहता मुक्त ॥१४॥
पहले भी तो मुमुक्षुओं ने,
कर्म किया है ऐसा जान ।

इससे किये पूर्वजों ने जो,
करो वही तुम कर्म सुजान !॥१५॥
क्या है कर्म अकर्म यहां पर,
बुध भी हैं संशय से युक्त ।
सो मैं कर्म कहूँगा जिसको,
जान पाप से होगा मुक्त ॥१६॥
निश्चय कर्म ज्ञेय है एवं,
है विकर्म ज्ञातव्य सुजान !
और अकर्म जानना चाहिये,
कर्मों की गति गहन महान ॥१७॥
जो अकर्म में कर्म देखता,
तथा कर्म में देखे उक्त–। (अकर्म)
वह पुरुषों में बुद्धिमान है,
सकलकर्म–कर्त्ता है युक्त ॥१८॥
जिस मनुष्य के काम-वासना–

से वर्जित हों सब उद्योग ।
ज्ञान अग्नि से जले कर्म बुध-
कहते उसको पण्डित लोग ॥१९
जो तज कर्म फलों की आशा,
सदा तृप्त हो आश्रयहीन ।
वह कर्मों में जुटा हुवा भी,
करता कर्म कभी कुछ भी न ॥२०॥
आशा रहित नियत मानस तन,
सकल संग्रहों का कर त्याग ।
केवल दैहिक* कर्मों को कर, (*देहके)
नहीं पाप पाता बड़भाग ॥२१॥
द्वन्द्वातीत विमत्सर हो जो,
स्वयं प्राप्त में तुष्ट सुजान ।
करके भी वह मुक्त रहे जो,
हानि लाभ में रहे समान ॥२२॥

स्थिर हो चित्त ज्ञानमें जिसका,
जो हो मुक्त संग से हीन।
यज्ञ हेतु करता हो उसके,
सकल कर्म होते हैं लीन ॥२३॥
ब्रह्म स्रुवादिक तथा ब्रह्म हवि,
ब्रह्म अनल में होता ब्रह्म।
ब्रह्म रूप उस यज्ञ कर्म से,
प्राप्त किया जाता है ब्रह्म ॥२४॥
करें उपासन दैवयज्ञ का,
जग में कोई योगीजन।
इसी यज्ञ से ब्रह्म अग्नि में,
तथा दूसरे करें यजन ॥२५॥
कर्णादिक इन्द्रिय का कोई,
संयमाग्नि में करें यजन।
अन्य शब्द आदिक विषयों का,

इन्द्रियाग्नि में करें हवन ॥२६॥
सकल इन्द्रियों के कर्मों को,
कर्म प्राण के कोई जन ।
आतम-संयम-योग-अग्नि में,
ज्ञान हुये पर करें हवन ॥२७॥
द्रव्ययज्ञ तपयज्ञ तथा कुछ,
करते योग यज्ञ व्यवहार ।
ज्ञानयज्ञ स्वाध्याय यज्ञ को,
करते यती कठिन व्रत धार ॥२८॥
होमें प्राण अपान वायु में,
पुनि अपान को प्राणों बीच ।
प्राणायाम परायण कोई,
प्राणापान गती को खींच ॥२९॥
कर नियमित आहार दूसरे,
होमें प्राणों ही में प्रान ।

यज्ञों से निष्पाप हुये ये,
सभी यज्ञ के ज्ञाता जान ॥३०॥
यज्ञ शेष अमृत के भोक्ता*,(भोगने वाले)
ब्रह्म सनातन पावें तात ?
यज्ञहीन का नहीं लोक यह,
अन्य लोक की तो क्या बात॥३१॥
इस प्रकार के यज्ञ अनेकों,
अर्जुन ! वेदों में हैं व्याप्त ।
वे सब कर्मजन्य हैं, ऐसा-
जान मोक्ष को होगा प्राप्त ॥३२॥
द्रव्यरूप यज्ञों से अर्जुन !
ज्ञानयज्ञ है परम प्रधान ।
पार्थ ! सकल कर्मों का होता,
ज्ञानयज्ञ में पर्यवसान ॥(*समाप्ति)३३
नम्रभाव से, प्रश्नों द्वारा,

सेवा से इसको तू जान।
तत्व जानने वाले ज्ञानी-
जन देंगे तुझको वह ज्ञान ॥३४॥
जिसे जान कर ऐसे अर्जुन!
फिर न मोह को होगा प्राप्त।
जिससे सब जीवोंको निज में,
अरु मुझ में देखेगा व्याप्त ॥३५॥
जो यदि सकल पापियों से भी,
बढ कर तू है पापाचार।
ज्ञान-नाव के द्वारा तो भी,
सब पापों से होगा पार ॥३६॥
पार्थ! प्रदीप्त अग्नि ईंधनको,
कर देता है भस्म यथैव-(-जैसे)
ज्ञान अग्नि सारे कर्मों को,
करदे भस्मीभूत तथैव-॥३७॥(-तैसे)

नहीं दूसरी वस्तु जगत् में,
है पवित्र कुछ ज्ञान समान ।
योग सिद्धि से स्वयं समय पर,
पावे अपने में वह ज्ञान ॥३८॥
ज्ञान परायण, इन्द्रिय विजयी,
श्रद्धालू पाता है ज्ञान ।
पाकर ज्ञान शीघ्र ही फिर वह,
पा लेता है शान्ति महान ॥३९॥
संशयग्रस्त अश्रद्धा वाला,
मूढ़ नष्ट हो जाता है ।
दोनों लोक बिगड़ते उसके,
कहीं न वह सुख पाता है ॥४०॥
त्यागे कर्म योग से जिसने,
किया ज्ञान से संशय नाश ;
ऐसे आत्मवान को अर्जुन !

बांध न सके कर्म का पाश ॥४१॥
सो अज्ञान जन्य मनका भ्रम–
काट ज्ञान की ले तलवार ।
उठ कर कर्म योग के करने–
को उद्यत हो पाण्डु–कुमार ! ॥४२॥

* इति चतुर्थोऽध्यायः *

अथ पञ्चमोऽध्यायः

प्रथम कर्म का त्याग कहा फिर,
अब करते हो योग बखान ।
दोनों में जो श्रेष्ठ एक वह,
निश्चय से कहिये भगवान ॥१॥

श्री भगवान् बोले—
कर्म त्याग अरु कर्म योग ये,

दोनों श्रेयस्कर हैं पार्थ !
दोनों में भी कर्म त्याग से,
कर्म योग है श्रेष्ठ यथार्थ ॥२॥
जो न चाहता, द्वेष न करता,
वह संन्यासी जान यथार्थ ।
अनायास ही द्वन्द्व रहित जन,
होता मुक्त बन्ध से पार्थ ! ॥३॥
सांख्य योग को भिन्न मूर्ख जन-कहते,
कभी नहीं जन आप्त * । (पण्डित)
पूर्ण एक के भी आश्रय से,
दोनों का फल होता प्राप्त ॥४॥
ज्ञानी जहां पहुंचते हैं यो-गी-
भी पाते हैं वह स्थान ।
ज्ञान-कर्म को एक देखने-
वाला ही है चतुर सुजान ॥५॥

बिना योग हे महाबाहु! है,
अति दुष्कर पाना संन्यास।
योग युक्त मुनि स्वल्प काल में,
पालेता है ब्रह्म-निवास ॥६॥

हो पवित्र मन योग युक्त जो,
आत्मा-इन्द्रिय-जयी यथार्थ।
सब में निज को देख रहा वह,
करता भी हो लिप्त न पार्थ! ॥७॥

मैं कुछ कर्म नहीं करता यों,
माने तत्व-ज्ञानी युक्त।
दर्शन श्रवण सूंघना छूना,
खाना जाना जीना सुप्त* ॥८॥(सोना

कहना तजना तथा पकड़ना,
आंख खोलना करना बन्द।
इनमें जाने-सकल इन्द्रियां,

विषयों में वर्तें स्वच्छन्द ॥९॥
ईश्वर अर्पण करके जो जन,
करता कर्म संग को त्याग।
वह न पाप से कमल पत्र सम,
होता कभी लिप्त बड़भाग ॥१०॥
तन से मन से तथा बुद्धि से,
मात्र*!इन्द्रियों से भी पार्थ ?!(केवल)
आत्मशुद्धि के लिये संग तज,
योगी करते कर्म यथार्थ ॥११॥
योगी त्याग कर्म के फल को,
पूर्ण शान्ति को पाता है।
योगहीन जन फल में फँसकर,
इच्छा से बंध जाता है ॥१२॥
इन्द्रिय बिजयी सब कर्मों को,
मन से तज सुख पाता है।

नौ द्वारों के पुर में आत्मा
करता कुछ न कराता है ॥१३॥
जग के कर्म तथा कर्तापन,
अथवा कर्म फलों का मेल ।
ईश्वर नहीं बनाता यह है,
स्वाभाविक-माया का खेल ॥१४॥
व्यापक ईश्वर नहीं किसी के,
लेते कभी पुण्य या पाप ।
ढका ज्ञान अज्ञान पटल से,
इससे प्राणी मोहित आप ॥१५॥
पर जिनका अज्ञान ज्ञान से,
हो जाता है नष्ट सुजान !
उनमें ज्ञान प्रकाशित करता,
परम तत्व को सूर्य समान ॥१६॥
आत्मा बुद्धि लगा कर उसमें,

उसी परायण श्रद्धायुक्त।
पाप रहित वे हुये ज्ञान से,
हो जाते हैं नित्य विमुक्त ॥१७॥
विद्या विनय युक्त ब्राह्मण में,
धेनु तथा गज में मतिमान!
कूकर और श्वपच*इन सबमें, (*चांडाल)
समदर्शी होते विद्वान ॥ १८ ॥
जीता जग को यहीं उन्होंने,
जिनका मन समता में लीन।
सम निर्दोष ब्रह्म है इससे,
वे हैं सदा ब्रह्म आसीन ॥१९॥
पा प्रिय वस्तु नहीं हर्षित हो,
तथा न अप्रिय से हो दीन।
निश्चय मति हो मोहरहित जो,
वह ब्रह्मज्ञ ब्रह्म आसीन ॥२०॥

बाह्य सुखों में अनासक्त जो,
आत्मा में सुख करता प्राप्त ।
ब्रह्म योग में निरत हुवा वह,
अक्षय सुख पाता पर्याप्त ॥२१॥
जो भी इन्द्रिय-स्पर्श जन्य हैं,
ये दुःख के कारण हैं भोग ।
आदि अन्त वाले हैं इनमें,
पार्थ ! नहीं रमते बुध लोग ॥२२॥
है समर्थ सह सकने को जो,
जबतक छुटता नहीं शरीर ।
काम क्रोध-जन्य वेगों को,
वह ही सुखी युक्त है वीर ॥२३॥
जो अन्तर में सुखी आत्मरत,
अन्तर्ज्योति जगाता है ।
वह योगी निर्वाण ब्रह्म को,

ब्रह्म रूप हो पाता है ॥२४॥

पाप रहित जो आतम संयमी
करते नष्ट द्वैत का ज्ञान।
सर्व भूत-हित-निरत हुये वे,
पाते ऋषी ब्रह्म निर्वान ॥२५॥

है स्वाधीन चित्त जिनका जो,
करते काम क्रोध का हान* ।(नाश)
उन आतम वेत्ताओं को है,
चारों ओर ब्रह्म निर्वान ॥२६॥

बाह्य विषय कर दूर चक्षुओं,
को लेते त्रिकुटी में धार।
रख कर प्राण अपान बराबर,
करे नासिका में संचार ॥२७॥

संयत इन्द्रिय बुद्धि तथा मन,
मोक्ष परायण मुनि विद्वान।

इच्छा क्रोध न भयहो जिसको,
उसको सदा मुक्त ही जान ॥२८॥
यज्ञ तपों का भोगी मुझको,
सब लोकों का ईश महान ।
सब जीवों का सुहृद *जानकर, (मित्र)
पा लेता है शान्ति सुजान ॥२९॥

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

जो कर्त्तव्य कर्म को करता,
फल के रहे नहीं आधीन ।
वह संन्यासी अरु योगी है,
नहीं अग्नि या क्रिया विहीन ।१॥
जिसे कहें संन्यास विज्ञजन,
योग उसी को जानो पार्थ !

बिना तजे संकल्प कभी भी,
कोई योगी हो न यथार्थ ॥२॥
योग सिद्धि के इच्छुक जनका,
कारण कर्म कहाता है।
उसी योग आरूढ़ हुये का,
शम कारण बन जाता है ॥३॥
जब न फँसे इन्द्रिय विषयोंमें,
तथा न कर्मों में मतिमान।
सब संकल्प तजे तब उसको,
योगारूढ़ कहें विद्वान ॥४॥
निज उद्धार करे निज मन से,
निज को गिरने दे न सुजान।
मन ही अपना परम हितैषी,
मन ही अपना शत्रु महान ॥५॥
शुभ मति से जिसने निज मनको-

जीता उसका मन है मित्र।
वश में किये बिना उसका मन,
रिपु सम वर्ते हुवा अमित्र ॥६॥
मन के विजयी शान्त पुरुषका,
रहता आत्मा सदा समान।
शीतलता, गर्मी, सुख, दुखमें,
पाकर तथा मान अपमान ॥७॥
ज्ञान तथा विज्ञान तृप्त जो,
अविचल, इन्द्रियजयी सुजान।
उसे कहें योगी जिसको हों,
मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण समान ॥८॥
सुहृद मित्र मध्यस्थ बन्धु रिपु,
उदासीन औ द्वेष्य सुजान!
पापी और साधु इन सब में,
जो सम मति वह पुरुष प्रधान ॥९॥

आत्म साधना करे निरन्तर,
योगी कर एकान्त निवास।
मन को मति को जीत अकेला,
तजकर संग्रह हुवा निरास ॥१०॥
समतल शुद्ध देश में योगी,
स्थिर हो आसन लेय लगाय।
प्रथम कुशा, कुशपर मृगछाला,
उस पर लेवे वस्त्र बिछाय ॥११॥
कर एकाग्र वहां पर मन को,
रोक चित्त इन्द्रिय व्यापार।
अन्तःकरण शुद्धि हित साधे,
उस आसन पर योगाचार ॥१२॥
देह शीश को अरु ग्रीवा को,
करे अचल सम स्थिर होकर।
जमा दृष्टि नासाग्र भाग में,

नहीं देख कर इधर उधर ॥१३॥
शान्त चित्त निर्भय हो करके,
ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर ।
मन को रोक मुझे चिन्तनकर,
होकर युक्त रहे मत्पर ॥१४॥
जो योगी निश्चल मन से यों,
संतत योग जगाता है ।
वह मुझमें स्थित मोक्षरूपिणी,
परम शान्ति को पाता है ॥१५॥
अति भोजनसे बिन भोजनके,
या अति सोने से मतिमान ?
अथवा अधिक जागने से भी,
योग सिद्ध हो नहीं सुजान ?॥१६॥
नियत चेष्टा हो कर्मों में,
युक्त सकल आहार विहार ।

यथा उचित सोना, जगना हो,
दुग्वहर ऐसा योगाचार ॥१७॥
वशमें किया हुवा जब यह मन,
आत्मा में टिक जाता है।
सकल कामना रहित हुवा तब–
योगी युक्त कहाता है ॥१८॥
वायू रहित स्थान में जैसे,
दीपक निश्चल रहे सुजान ?
ऐसे योग निरत योगी के,
मनको स्थिर कहते विद्वान ॥१९॥
योग साधना द्वारा रुक कर,
चित्त जहां होवे उपराम।
निजसे निज को निजमें लखकर,
जहां तुष्ट होता अविराम ॥२०॥
जो अनन्त सुख इन्द्रियगणसे –

परे बुद्धि से जाना जाय ।
जिसमें स्थित हो तत्व ज्ञानसे,
कभी न विचलित होने पाय ॥२१॥
माने नहीं जिसे पा करके,
उससे अधिक लाभ कुछ और ।
महादुःख से भी न चलित हो,
जिसमें कर लेने पर ठौर ॥२२॥
सकल दुखों से रहित उसी को,
योग नाम से जाने पार्थ !
निश्चय पूर्वक शांत चित्त से,
वह है साधन योग्य यथार्थ ॥२३॥
सब संकल्प जनित इच्छाओं,
से हो करके पूर्ण विहीन ।
सभी ओर से इन्द्रियगण को,
मन के द्वारा कर आधीन ॥२४॥

धीरज युक्त बुद्धि के द्वारा,
धीरे धीरे हो उपराम।
कुछ भी चिन्तन नहीं करे फिर,
आत्मा में दे मन को थाम ॥२५॥
जहां २ से यह चञ्चल मन,
निकले होकर स्थिरताहीन।
वहां वहां से इसे रोक कर,
करे आत्म के ही आधीन ॥२६॥
ब्रह्म भूत जिस पाप रहितका,
होता राजस भाव समाप्त।
शान्त हृदय उस योगी जनको,
उत्तम सुख होता है प्राप्त ॥२७॥
आत्म साधना नित्य निरन्तर,
ऐसे करने वाले लोग।
हो निष्पाप ब्रह्म दर्शन के,

करते अति सुखका उपभोग ॥२८॥
आत्मा को सब भूतोंमें स्थित,
आत्मा में सब भूत यथार्थ ।
योग युक्त समदर्शी सब में,
देखा करता है हे पार्थ ॥२९॥
जो मुझ को सर्वत्र देखता,
तथा सभी को मुझमें व्याप्त ।
उस से मैं न कभी छुटता हूं,
मुझे सदा वह रहता प्राप्त ॥३०॥
सब भूतोंमें स्थित जो मुझको,
भजता एक भाव से पार्थ !
सब प्रकार से वर्त रहा भी,
वह मुझ में ही रहे यथार्थ ॥३१॥
अर्जुन ! अपनी तुलना से जो,
सब के सुख दुख एक समान ।

देख रहा है, ऐसा योगी,
हो है सब में परम प्रधान ॥३२॥

अर्जुन बोला-

यह जो साम्यभाव से भगवन्!
किया आपने योग बखान।
मनकी चञ्चलता के कारण,
इसकी स्थिरता पड़ै न जान॥३३॥
निश्चय ही यह मन चञ्चल है,
मथनशील दृढ़ है बलवान।
वायु वेग सम इसका निग्रह,
दुष्कर जँचता है भगवान ॥३४॥

श्रीभगवान् बोले—

निःसन्देह चित्त चञ्चल है,
वश करना है कठिन यथार्थ।
पर विराग अभ्यास किये से,

बस में हो सकता है पार्थ ! ॥३५॥
मेरे मत से असंयमी को,
है यह कठिन योग दुष्प्राप्य ।
किन्तु संयमी को उपाय से,
यत्न किये से होता प्राप्य ॥३६॥

अर्जुन बोला—

विचलित चित्त योग से जो हो,
असंयमी पर श्रद्धावान ।
योग सिद्धि को नहीं प्राप्त कर,
क्या गति पाता है भगवान!॥३७॥
ब्रह्ममार्ग में मूढ़ निराश्रय,
होकर उभय*ओर से भ्रष्ट । (दोनों)
छिन्नभिन्न बादल सम भगवन!
क्या वह हो जाता है नष्ट ॥३८॥
यह मुझको संशय है केशव !

इसका करिये पूर्ण विनाश ।
बिना आपके कौन दूसरा,
काट सके यह संशय पाश ॥३६॥

श्री भगवान् बोले-

यहां तथा परलोक न उसका,
पार्थ ! कहीं होता है नाश ।
पुण्य कर्म करने वाले का,
कभी न होता सत्यानाश ॥४०॥
सुकृति जनों के लोकों को पा,
उन में रहकर काल महान ।
पावन श्रीमानों के घर में,
योग-भ्रष्ट ले जन्म सुजान !॥४१॥
अथवा प्राज्ञ योगियों के ही,
कुल में वह लेता अवतार ।
ऐसा जन्म जगत् में पाना,

अति दुर्लभ है पाण्डुकुमार !॥४२॥

वहां जन्म ले पूर्व देह की,
पा करके मति का संयोग ।
फिर प्रयत्न में जुट जाता है,
पार्थ ! सिद्ध करने को योग ॥४३॥

उसी पूर्व अभ्यास योग से,
खिंचता उसी ओर लाचार ।
योग सिद्धि का जिज्ञासू भी,
शब्द ब्रह्म को करता पार ॥४४॥

यत्न सहित अभ्यास कियेसे,
योगी हुवा पाप से शुद्ध ।
परमगती को पाता है फिर,
जन्म अनेकों में हो सिद्ध ॥४५॥

ज्ञानवान औ तपस्वियों से,
तथा कर्म निष्ठों से पार्थ ।

योगी को उत्तम माना है,
इससे योगी बनो यथार्थ ॥४६॥
जो श्रद्धायुत अन्तर मन से,
भजता मुझको धरकर ध्यान।
सकल योगियों में भी मुझको,
वह योगी है मान्य प्रधान ॥४७॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

मम आधीन निरत मन मुझमें,
योग साधता हुवा यथार्थ।
मुझ समग्र को संशय तज कर,
जैसे जानेगा सुन पार्थ ॥१॥
मैं विज्ञान सहित यह तुझ को,
बतलाऊंगा सारा ज्ञान।

जिसे जान लेने पर जग में,
रहे न कुछ ज्ञातव्य सुजान ॥२॥
पुरुष हजारों में कोई ही,
करे सिद्धि हित यत्न यथार्थ।
यत्नशील सिद्धों में कोई,
मुझे तत्त्व से जाने पार्थ ॥३॥
भूमि, वायु, जल, अनल, गगन औ,
अहंकार, मन, बुद्धि सुजान!
आठ भांति से भिन्न हुई यह
मेरी प्रकृती है यह जान ॥४॥
यह तो अपरा हुई प्रकृति मम,
इससे भिन्न परा को जान।
जीव रूप वह जिससे धारण,
किया हुवा है विश्व महान ॥५॥
सब जीवों का यही मूल है,

ऐसा अर्जुन करो विचार।
मैं सब जग का उत्पादक हूं,
मैं ही करता हूं संहार ॥६॥
अर्जुन! मुझसे परे यहां पर,
और नहीं कुछ भी है सार।
धागे में मणियों की भांती,
मुझ में प्रोत सकल संसार ॥७॥
कौन्तेय! मैं रस हूं जल में,
चन्द्र, सूर्य में कान्ति अपार।
शब्द गगन में, पौरुष जन में,
सब वेदों में हूँ ओङ्कार ॥८॥
मैं ही पृथिवी में सुगन्ध हूँ,
और अग्नि में तेज स्वरूप।
सब भूतों में जीवन मैं हूँ,
तपस्वियों में हूँ तप रूप ॥९॥

सब भूतों का बीज सनातन,
अर्जुन मुझ को ही तू जान ।
मैं हूँ बुद्धि बुद्धिमानों में,
तेज तेजवालों में मान ॥१०॥
बलवानों में मैं ही बल हूँ,
राग विवर्जित तथा अकाम ।
भरतश्रेष्ठ ! धर्माऽनुकूल सब-
भूतों में मैं ही हूं काम ॥११॥
मुझ से ही ये बने हुये हैं,
सात्विक, राजस, तामसभाव ।
मुझको उनमें कभी न जानो,
उनका मुझ में प्रादुर्भाव ॥१२॥
इन ही त्रिगुण रूप भावों से,
मोहित हुवा सकल संसार ।
मुझ अव्यय को नहीं जानता,

मैं हूँ इन तीनों से पार ॥१३॥
दैवी त्रिगुणमयी यह मेरी,
माया अति दुस्तर है पार्थ !
मेरी ही जो शरण गहें वे,
ही हों इसके पार यथार्थ ॥१४॥
पापाचारी मूढ नराधम,
मुझे नहीं होते हैं प्राप्त ।
माया से हृत-ज्ञान आसुरी,
भाव सदा जिन में हो व्याप्त ॥१५॥
चार भांति के सुकृती मानव,
भजते मुझको पार्थ सुजान ।
दुखी, ज्ञान इच्छुक, धनकामी,
चौथे ज्ञानी जन मतिमान ॥१६॥
इन में ज्ञानी नित्य-युक्त अरु,
एक भक्ति है श्रेष्ठ महान ।

मैं ज्ञानी को अतिशय प्रिय हूं,
ज्ञानी मुझको प्यारा जान ॥१७॥
यद्यपि हैं ये सभी श्रेष्ठ पर,
ज्ञानी मेरा आत्मा मान ।
युक्त आत्मा वह मम उत्तम,
गति को आश्रित रहे सुजान ॥१८॥
बहु जन्मों के अन्त समय में,
ज्ञानी मुझको होता प्राप्त ।
सब कुछ वासुदेव मय लखकर,
पर वह जन दुर्लभ है आप्त- १९ महात्मा
इच्छाओं के विवश हुए वे,
निज स्वभाव के ही आधीन ।
अन्य देवताओं को भजते-
हैं उन उन नियमों में लीन ॥२०॥
जो २ जिस २ देव मूर्ति की,

पूजा का जन करे विचार।
उस २ की श्रद्धा को मैं दृढ़,
देता उसी मूर्ति में धार ॥२१॥
उस श्रद्धा से युक्त हुवा वह,
उसी देव को ध्याता है।
मुझ से विहित सकल भोगों को,
उस के द्वारा पाता है ॥२२॥
उन लघुमति वालों का वह फल,
नश्वर होता है मतिमान।
देवभक्त पाते देवों को,
मुझ को मेरे भक्त सुजान ॥२३॥
उत्तम अव्यय परम भाव को,
मेरे विन जाने अज्ञान।
मैं जो हूं अव्यक्त मुझे वे,
व्यक्त हुवा लेते हैं मान ॥२४॥

मैं हूं छिपा योग-माया से,
मेरा सब को ज्ञान नहीं ।
अज अव्यय मेरे स्वरूप का,
मूढ़ लोक को भान नहीं ॥२५॥
भूत भविष्यत् वर्तमान सब ,
भूतों का मुझ को है ज्ञान ।
अर्जुन ! किन्तु जगत् में मेरी,
नहीं किसी को भी पहिचान ॥२६॥
इच्छा द्वेष-जनित सुख दुख-मय,
द्वन्द्व मोह जो है मतिमान ।
उससे सारे प्राणी जग में,
मोहित होते हैं यह जान ॥२७॥
जिन अति पुण्यवान लोगों के,
पापों का होता अवसान* ।(*समाप्ति)
द्वन्द्व-मोह से रहित मुझे वे,

दृढव्रती भजते मतिमान ॥२८॥

जरा, मरण से छुटने का जो,
मत्पर यत्न करें मतिमान ।
अखिल कर्म अध्यात्म विषय सब,
तथा ब्रह्म को लें वे जान ॥२९॥

जो अधिभूत तथा अधिदैव,
सहित अधियज्ञ मुझे लें जान ।
उन संयत मन वालों को हो,
अन्त समय भी मेरा ज्ञान ॥३०॥

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन बोला—

ब्रह्म तथा अध्यात्म कौन है ?
पुरुषोत्तम क्या कर्म तथैव ।
क्या अधिभूत कहाता भगवन् !
किसको कहते हैं अधिदैव ॥१॥
है अधियज्ञ कौन कैसा है,
इस शरीर में हे भगवान !
अन्त समय स्थिर मन वालों को,
कैसे होता है तव ज्ञान ॥२॥

श्रीभगवान् बोले—

अक्षर परम ब्रह्म कहलाता,
तथा जीव अध्यात्म सुजान ।
सब जीवों का उद्भव कारक,
यज्ञ कर्म है ऐसा जान ॥३॥

नाशशील अधिभूत कहाते,
पुरुष कहाता है अधिदैव।
देहधारियों के देहों में,
मैं ही हूँ अधियज्ञ सदैव ॥४॥
अन्त काल में मुझे याद कर,
तजता है जो देह सुजान।
वह मेरे स्वरूप को अर्जुन!
पाता है यह निश्चय जान ॥५॥
देह त्यागते समय अन्त में,
जिन २ भावों का मतिमान-
चिन्तन करता, उसी भाव से,
भावित उसमें मिले सुजान ॥६॥
अतः युद्ध कर और निरन्तर,
रख मन में मेरा ही ध्यान।
मन अरु बुद्धि मुझे अर्पण कर,

मुझे प्राप्त होगा सच जान ॥७॥
जुटा हुवा अभ्यास योग से,
एकनिष्ठ मन से कर ध्यान ।
परम दिव्य इस महा पुरुषको,
अर्जुन पाता है विद्वान ॥८॥
सुमरे जो सर्वज्ञ पुरातन,
शासक सब से सूक्ष्म महान ।
जो अचिन्त्य है सबका धारक,
तम से पर आदित्य समान ॥९॥
भक्ति योग से मरणकाल में,
स्थिर मन हो जो ध्याता है ।
ठीक भ्रुवों में रोक प्राण वह,
दिव्य पुरुष को पाता है ॥१०॥
वेद जानने वाले जिसको,
अक्षर ब्रह्म बताते हैं ।

राग रहित हो करके जिसमें,
योगी जन लय पाते हैं ॥
जिसकी इच्छा से प्रेरित हो,
ब्रह्मचर्य को निभाते हैं ।
वह ही पद संक्षेप रीति से,
अर्जुन तुझे बताते हैं ॥११॥
सब द्वारों का संयम करके,
मन को करके हिय में लीन ।
मस्तकमें निज प्राण जमा कर,
इस प्रकार हो योगासीन ॥१२॥
मुझ को सुमर ओं अक्षर को,
जो वाणी से गाता है ।
फिर जो देह त्यागता है वह,
परमगती को जाता है ॥१३॥

जो अनन्य मन होकर मेरा,
नित्य निरन्तर करता ध्यान ।
ऐसे नित्य युक्त योगी को,
मैं हूँ सुलभ पार्थ यह जान ॥१४॥
मुझे प्राप्त कर परम सिद्धिको,
पाये हुये अनेकों आप्त=(महात्मा)
इस अनित्य दुखरूप जन्म को,
फिर वे कभी नहीं हों प्राप्त ॥१५॥
ब्रह्मलोक तक सब लोकों से,
फिर आना होता है तात !
मुझे प्राप्त कर लेने पर तो,
पुनर्जन्म की रहे न बात ॥१६॥
जो हजार युग का ब्रह्मा के,
दिन को मानें एक सुजान !
ऐसे रात्रि हजार युगों की,

वे दिन रात रहे हैं जान ॥१७॥
दिन होने पर सभी व्यक्तियां,
प्रकट आप हो जाती हैं ।
रात होत अव्यक्त उसी में,
अपने आप समाती हैं ॥१८॥
वही भूत समुदाय विवश हो,
हो हो करके होता लीन ।
रात हुये, अरु दिन आने पर,
अर्जुन ! प्रकटे वही नवीन ॥१९॥
है अव्यक्त सनातन इनसे-
परे और भी एक पदार्थ ।
सब जीवों के मिटने पर भी,
उसका नाश नहीं हो पार्थ ॥२०॥
है अक्षर अव्यक्त वही अरु,
परम गती है उसका नाम ।

जिसे प्राप्त कर नहीं लौटते,
वह है मेरा उत्तम धाम ॥२१॥
पार्थ ! अनन्य भक्ति से ही वह,
परम पुरुष होता है प्राप्त ।
जिसमें स्थित हैं भूत चराचर,
जिससे यह सब कुछ है व्याप्त॥२२
योगी देह त्याग कर जिसमें,
नहीं जन्मते हैं मतिमान ।
अथवा पुनर्जन्म पाते हैं,
कहता हूँ वह काल सुजान ॥२३॥
अग्नि ज्योति दिन शुक्लपक्ष रवि-
उत्तर में जब हो छै मास ।
ऐसे समय देह तज करके,
ज्ञानी जांय ब्रह्म के पास ॥२४॥
धूम रात्रि अरु कृष्णपक्ष हो,

दक्षिण अयन सूर्य छै मास।
इनमें मर कर आते योगी,
चन्द्रलोक में करके वास ॥२५॥
सदा जगत् की शुक्ल कृष्ण ये,
दो गतियां मानें विद्वान।
आते नहीं एक से उलटे,
दूजी से आते यह जान ॥२६॥
योगी कभी न मोहित होता,
जो इनको लेता है जान।
इससे सकल काल में तू भी,
योग युक्त हो पार्थ सुजान ॥२७॥
वेद, यज्ञ, तप, दानों से जो,
पुण्य रूप फल किया बखान।
इसे जान उसको लंघन कर,
योगी पाता आदि स्थान ॥२८॥
॥ आठवां अध्याय समाप्त ॥

* नवमोऽध्यायः *

तुझ निर्दोष दृष्टि को अब मैं,
अतिशय गुह्य ज्ञान, विज्ञान ।
बतलाता हूँ जिसे जान कर,
पाप मुक्त होगा मतिमान ॥१॥

सब विद्याओं में राजा यह,
राज गुह्य शुचि उत्तम ज्ञान ।
धर्म युक्त प्रत्यक्ष-गम्य अरु,
अव्यय करने में आसान ॥२॥

जो मानव इस मोक्ष धर्म में,
श्रद्धा रखते नहीं सुजान ।
मुझे न पाकर मृत्यु लोक में,
वे फिर २ आते यह जान ॥३॥

मुझ अव्यक्त मूर्ति ने सारे,
जगको व्याप्त किया है तात !

सारे प्राणी मुझ में स्थिर हैं,
मैं न कभी इन में ठहरात ॥४॥
मुझमें भूत नहीं स्थित यह मम,
देख योग ऐश्वर्य महान।
सबका पालक जीवन दाता,
सब से भिन्न मुझे तू जान ॥५॥
जैसे आकाश स्थित वायू,
है सर्वत्र सदा गतिमान।
तैसे सकल भूत मुझ में ही,
स्थिर हैं ऐसा निश्चय जान ॥६॥
कल्प नाश पर सकल जीवगण,
मेरी प्रकृती में हों लीन।
मैं उनको फिर उपजाता हूँ,
जब होता है कल्प नवीन ॥७॥
निज माया का आश्रय लेकर,

भूत संघ को पाण्डुकुमार !
अवश प्रकृति के वशीभूत को,
उपजाता हूँ बारम्बार ॥८॥
जग रचने आदिक कर्मों का,
पार्थ मुझे बन्धन मत मान ।
मैं आसक्ति रहित हूं उनसे,
उदासिनवत मुझ को जान ॥९॥
मेरी इच्छा से ही माया,
रचती है जग बारम्बार ।
कुन्तीनन्दन ! इस कारण ही,
सदा बदलता है संसार ॥१०॥
मानुष तनधारी मेरा जो,
मूढ़ लोग करते अपमान ।
मुझ सब भूत महेश्वर के वे,
परम भाव से हैं अनजान ॥११॥

आशा, कर्म, ज्ञान निष्फल हैं,
तथा चित्त उनका विक्षिप्त ।
मोहमयी राक्षसी आसुरी,
प्रकृति में वे रहते लिप्त ॥१२॥
दैवी प्रकृति आश्रय वाले,
पार्थ ! महात्मा जन विद्वान ।
भजते अनन्य मन से मुझको
सबका आदि अव्यय जान ॥१३॥
करें निरन्तर कीर्त्तन मेरा,
करते यत्न दृढ व्रत धार ।
सहित भक्ति के नमस्कार कर,
नित्य पूजते बारम्बार ॥१४॥
ज्ञान यज्ञ के द्वारा कोई,
मेरा यजन करें मतिमान ।
एक अनेक भाव से करते,

बहुधा विश्वरूप का ध्यान ॥१५॥

श्रौत, स्मार्त्त यज्ञ सब मैं हूं,
औषध स्वधा मुझिको जान ।
मैं ही मन्त्र, अग्नि घृत मैं ही,
हव्य, कव्य सामग्रि सुजान ॥१६॥

माता, पिता, पितामह सब कुछ,
इस जग का मैं हूं आधार ।
ऋग्, यजु, सामवेद मैं ही हूं,
मैं ज्ञातव्य शुद्ध ओङ्कार ॥१७॥

गति, पालक, प्रभु साक्षी मैं हूं,
सुहृद शरण मैं वास स्थान ।
उत्पत्ति स्थिति लय हूं मैं ही,
अविनाशी मैं बीज निधान ॥१८॥

मैं तपता हूं, मेघ रोकता,
बरसाता हूं वृष्टि सुजान ।

अमृत और मृत्यु मैं ही हूं,
सत् अरु असत् मुझे ही जान ॥१९॥
त्रैविद्यपी सोम, अपाप होकर,
यज्ञों द्वारा स्वर्ग को चाहते हैं।
वे पुण्य रूपी सुरलोक में जा,
देवोपयोगी सुख भोग भोगें ॥२०॥
वे विशाल उस स्वर्ग लोक के,
भोग भोगने पर निःशेष।
पुण्य क्षीण होने पर फिर से,
मृत्यु लोक में करें प्रवेष॥
ऐसे कर आचरण धर्म का,
जो तीनों वेदों में व्याप्त।
भोग कामना वाले होते,
आवागमन चक्र को प्राप्त ॥२१॥
हो अनन्य मन जो जन मेरा,

करते चिन्तन और भजन ।
नित्य निरत उन भक्तों के मैं,
योग क्षेम का करूं वहन ॥२२॥
और दूसरे देवों को भी,
भजते हैं जो श्रद्धावान ।
वे भी विधि से रहित मुझेही,
अर्जुन ! भजते हैं यह जान ॥२३॥
निश्चय मैं ही सब यज्ञों का,
भोक्ता अरु स्वामी हूं पार्थ ।
इसी हेतु गिर जाते हैं वे,
मुझे जानते नहीं यथार्थ ॥२४॥
देवव्रती देवों को जाते,
पितृ-व्रत पितरों के पास ।
भूत उपासक भूतों का औ,
मुझे प्राप्त हो मेरे दास ॥२५॥

पत्र, पुष्प, फल अथवा जल जो,
करे भक्ति से मुझको दान ।
उस पवित्र मन वाले का वह,
मैं खाता हूँ निश्चय जान ॥२६॥
भोजन,यज्ञ,दान, तप आदिक,
करता है जो कर्म सुजान !
कुन्तीनन्दन ! उन सब को तू,
मेरे अर्पण कर मतिमान ! ॥२७॥
अशुभ तथा शुभ कर्म फलोंके,
बन्धन से यों होकर मुक्त ।
जुटा हुवा संन्यास योग में,
मुझे पायगा हुवा विमुक्त ॥२८॥
मुझे नहीं प्रिय अप्रिय कोई,
मैं सब में हूँ एक समान ।
पर जो मुझे भक्ति से भजते,

वे मुझ में उनमें मैं जान ॥२९॥
महादुराचारी भी मेरा,
जो अनन्य मन करता ध्यान ।
वह भी साधु मान्य है, कारण,
उसका निश्चय श्रेष्ठ महान ॥३०॥
वह तुरन्त धर्मात्मा होकर,
पाता है स्थिर शान्ति महान ।
मेरा भक्त न कभी नष्ट हो,
कुन्तीनन्दन ! निश्चय जान ॥३१॥
मेरा आश्रय लेकर जो भी,
पाप योनियां हैं मतिमान !
वैश्य, नारियां शूद्र आदि भी,
पाते हैं गति परम महान ॥३२॥
क्या फिर पुण्यवान ब्राह्मण औ,
राजऋषी भक्तों की बात ।

इस अनित्य दुखरूप जगतको,
पाकर भजन करो मम तात!॥३३॥
नमस्कार पूजन कर मेरा,
मुझमें मन दे, हो मम दास ।
मत्पर हो यों भजकर मुझको,
आयेगा मेरे ही पास ॥३४॥

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

* अथ दशमोऽध्यायः *

श्रीभगवान् बोले—

महाबाहु ! फिर भी अब मेरा,
वचन सुनो तुम परम महान ।
जो मैं तुझ सन्तुष्ट हुये के-
लिये कह रहा हूँ हित जान ॥१॥
नहीं महर्षियों को, देवों को,

मेरे उद्धव का है ज्ञान ।
सब प्रकार से अर्जुन मुझ को,
इनका आदि मूल पहिचान ॥२॥
जो मुझ अज अनादि लोकों के-
ईश्वर का विज्ञाता है ।
मोह रहित वह पुरुषों में सब,
पापों से छुट जाता है ॥३॥
बुद्धि, ज्ञान, निर्मोहपना पुनि,
क्षमा, सत्य, दम, शान्ति महान ।
सुख-दुख, भाव अभाव सकल ये-
निर्भयपन औ भीति निदान ॥४॥
समता, तप, सन्तोष अहिंसा,
दान, कीर्ति, अपकीर्ति महान ।
सब भूतों के भांति २ के,
भाव मुझी से हैं यह जान ॥५॥

सब से पहले सात महाऋषि,
स्वायम्भुव आदिक मनु चार ।
मेरे मानुष भाव हुये हैं,
जिनका है यह जग विस्तार ॥६॥
इस विभूति का और योगका,
जिसको हुवा यथावत ज्ञान ।
उसको निश्चल योग प्राप्ति हो,
इसमें कुछ संशय मत मान ॥७॥
मैं सब का उत्पादक, मुझ से,
सकल प्रकट हो विश्व महान ।
ऐसा जान मुझे भजते हैं,
भाव युक्त होकर विद्वान ॥८॥
मन अरु प्राण लगाकर मुझमें,
करें परस्पर बोध सुजान !
नित्य कथाएँ करके मेरी,

रमते होते तुष्ट महान ॥९॥
प्रेम सहित जो नित्य युक्त हो,
भजते वे मुझको मतिमान ।
उनको ऐसा बुद्धि योग दूँ,
जिससे मुझको मिलें सुजान॥१०॥
उन पर मैं अनुकम्पा करके,
आत्म भाव में करके वास ।
ज्ञान-दीप देदीप्यमान से,
करता मोह-जन्य तम नास ॥११॥

अर्जुन बोले—

परम ब्रह्म हो परम धाम हो,
अरु पवित्र हो आप महान ।
नित्य अजन्मा दिव्य पुरुष हो,
आदिदेव व्यापक भगवान ॥१२॥
ऐसे तुमको सारे ऋषिगण,

देवऋषी नारद निष्पाप।
देवल, असित, व्यास ये कहते,
तथा स्वयं कहते हो आप ॥१३॥
यह सब ठीक मानता हूँ मैं,
जो कुछ आप बताते हैं।
दानव देव न कोई भगवन्!
भेद आप का पाते हैं ॥१४॥
पुरुषोत्तम, हे जगके स्वामी!
भूत रचैया हे भूतेश!
तुम ही निजको जान रहे हो,
अपने द्वारा ही देवेश ॥१५॥
अपनी दैवी विभूतियों का,
पूर्णरूप से करो बखान।
जिनसे इन सारे लोकों को,
व्याप्त किये हो श्रीभगवान ॥१६॥

हे योगिन्! किस भांति आपको,
जानूँ मैं करके तव ध्यान ।
किन २ रूपों में तुम मेरे,
चिन्तनीय हो हे भगवान ! ॥१७॥

निज विभूतिका और योगका,
फिर से अब करके विस्तार ।
वर्णन करिये तृप्ति न होती,
सुन २ कर यह अमृत सार ॥१८॥

श्रीभगवान् बोले—

अब मैं तुमको बतलाऊँगा,
निज विभूतियां दिव्य प्रधान ।
मेरे विश्व विराट् रूप का,
अर्जुन अन्त नहीं यह जान ॥१९॥

सब भूतों के हृदयों में स्थित,
मैं हूँ आत्मा परम महान ।

आदि मध्य हूँ सब भूतों का,
मैं ही सबका अन्त सुजान ॥२०॥
आदित्यों में विष्णु मैं हूँ,
तथा ज्योतियों में दिननाथ।
मरुद्गणों में मैं मरीचि हूँ,
नक्षत्रों में रजनीनाथ ॥२१॥
वेदों में मैं सामवेद हूँ,
सब देवों में इन्द्र महान।
सकल इन्द्रियों में मैं मन हूँ,
भूतों में चेतनता जान ॥२२॥
एकादश रुद्रों में शंकर,
यक्ष राक्षसादि में कुबेर।
वसुओं में पावक हूँ मैं ही,
गिरि समूह में तथा सुमेर ॥२३॥
पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति,

जानों मुझको पाण्डुकुमार ।
कार्तिकेय सेनापतियों में,
जलाशयोंमें पारावार(समुद्र)॥२४॥
महर्षियों में भृगु ऋषी हूँ,
सकल वाणियों में ओंकार ।
स्थावर जग में शैल हिमालय,
यज्ञों में जपयज्ञ उदार ॥२५॥
हूँ अश्वत्थ सकल वृक्षों में,
सुर ऋषियों में नारद जान ।
गन्धर्वों में तथा चित्ररथ,
सिद्धों में मुनि कपिल पिछान॥२६॥
घोड़ों में सागर से जन्मा,
उच्चैःश्रवा मुझे तू जान ।
गजराजों में ऐरावत हूँ,
तथा नरों में राजा मान ॥२७॥

मैं हूँ वज्र सकल शस्त्रों में,
कामधेनु गौओं में जान।
काम सृष्टि रचने वाला हूं,
सर्पों में वासुकी पिछान ॥२८॥
शेषनाग मैं हूं नागों में,
जलचरगण में वरुण महान।
पितरों में हूँ तथा अर्यमा,
दण्डधारियों में यम जान ॥२९॥
दैत्यों में प्रल्हाद भक्त मैं,
ग्रसने वालों में मैं काल।
मैं हूँ सिंह सकल पशुओं में,
पक्षिवृन्द में गरुड़ विशाल ॥३०॥
वायु शुद्ध करने वालों में,
शस्त्रधारियों में मैं राम।
जलचरगण में मगरमच्छ मैं,

नदियों में गंगा सुखधाम ॥३१॥
सकल सृष्टि का आदि, मध्य मैं,
तथा अन्त मैं ही हूँ तात ।
विद्याओं में आत्मिक-विद्या,
वाद वादियों में विख्यात ॥३२॥
अक्षरमाला में अकार मैं,
और समासों में मैं द्वन्द्व ।
मैं हूँ अक्षय काल सर्वमुख,
विश्व विधाता हूँ निर्द्वन्द्व ॥३३॥
मैं हूँ मृत्यु सकल संहारक,
होनहार का जन्म स्थान ।
कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा,
धृति, क्षमा, स्त्री जनमें जान ॥३४
बृहत्साम हूं मैं सामों में,
छन्दों में गायत्री जान ।

मार्गशीर्ष मैं सब मासों में,
ऋतुओं में ऋतुराज पिछान॥३५
छलवालों में जूवा मैं हूं,
तेज तेजवालों में पार्थ।
जय उद्योग सकल मैं ही हूँ,
सत्वशील में सत्व यथार्थ॥३६॥
मैं श्रीकृष्ण वृष्णियों में हूँ,
पाण्डुसुतों में अर्जुन आर्य।
मुनियों में मैं व्यास मुनी हूँ,
कवियों में मैं शुक्राचार्य॥३७॥
दण्ड दमनशीलों में मैं हूँ,
जयेच्छुओं में नीति महान।
मैं हूँ मौन गुह्य भेदों में,
तथा ज्ञानवानों में ज्ञान॥३८॥
जो कुछ भी सारे भूतों का,

बीज हेतु है पाण्डुकुमार !
सब मैं हूँ बिन मेरे कुछ भी-
नहीं चराचर जग विस्तार ॥३९॥
मेरी दिव्य विभूतियों का,
नहीं परन्तप ! कुछ भी पार ।
यह संक्षेप मात्र बतलाया,
है मैंने तुमको विस्तार ॥४०॥
जो शोभा ऐश्वर्य युक्त है,
वस्तु तथा जो है बलवान ।
वह सब मेरे तेज-अंश से,
प्रकटित है यह निश्चय जान ॥४१॥
अथवा इसको बहुत जानने-
से भी क्या है पाण्डुकुमार !
मैं रहता हूँ एक अंश से,
करके व्याप्त सकल संसार ॥४२॥
॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

* अथ एकादशोऽध्यायः *

अर्जुन बोले—

मुझ पर करके अनुकम्पा जो,
परम गोप्य अध्यात्म बखान ।
किया आपने, उससे मेरा,
यह सब मोह मिटा भगवान ॥१॥

उद्भव, प्रलय सकल भूतों का,
मैंने सुना सहित विस्तार ।
कमलनयन ! अरु सुना आपसे,
अविनाशी माहात्म्य अपार ॥२॥

ऐसे जो यह अपना वर्णन,
किया आपने हे भगवान !
मुझे देखने की इच्छा है,
ईश्वरीय तव रूप महान ॥३॥

प्रभो ! आप यदि मान रहे हो,
देख सकूँगा मैं वह रूप ।
योगेश्वर ! तो दिखला दीजे,
अपना अव्यय रूप अनूप ॥४॥

श्रीभगवान् बोले—

अर्जुन ! मेरे रूप सैंकड़ों,
तथा सहस्रों भांति निहार ।
भांति भांति के दिव्य अनेकों,
वर्णों के अरु विविधाकार ॥५॥

देख रुद्र, वसु, आदित्यों को,
मरुत तथा अश्विनीकुमार ।
जो न कभी पहले देखे सो,
कितने ही आश्चर्य निहार ॥६॥

मेरे एक देह में स्थित सब,
आज चराचर जग विस्तार ।

देख, और जो कुछ भी इसमें,
देखा चाहे पाण्डुकुमार ॥७॥
अपने इन नयनों के द्वारा,
तू न सकेगा मुझे निहार ।
दिव्य दृष्टि देता हूँ तुझको,
देख योग ऐश्वर्य अपार ॥८॥

संजय बोले—

तब ऐसे कह करके राजन् !
योगेश्वर श्री हरि भगवान ।
लगे दिखाने अर्जुन को फिर,
ईश्वरीय निज रूप महान ॥९॥
कितने ही मुख, नयन अनेकों,
तथा अनोखे दृश्य अपार ।
आभूषण थे दिव्य बहुत से,
दिव्य अनेक सजे हथियार ॥१०॥

दिव्य वस्त्र औ मालाधारी,
दिव्य गन्ध से लिप्त अनूप ।
जो सब ओर मुखों वाला था,
अन्त रहित आश्चर्य स्वरूप ॥११॥
रवि हजार हों उदित गगन में,
सारे मिल कर करें उजार ।
तो उस महापुरुष की आभा,
के सम होवे किसी प्रकार ॥१२॥
वहां एक में स्थित सब जगको,
हुवा विभक्त अनेक प्रकार ।
कृष्णचन्द्र के दिव्य देह में,
लगा देखने पाण्डुकुमार ॥१३॥
तब आश्चर्य चकित सा होकर,
पुलकित रोम हुवा वह पार्थ ।
शीश झुकाकर जोर नमन कर,

ऐसे बोला बचन यथार्थ ॥१४॥

अर्जुन बोले—

देख रहा हूँ देव ! आपके—
तनु में भूत-देव गन को ।
दिव्य उरग सब ऋषीगणोंको,
ईश ब्रह्म कमलासन को ॥१५॥

बाहू, उदर, नयन, मुख नाना,
देख रहा हूँ रूप अनन्त ।
विश्वेश्वर ! तव विश्वरूप का,
आदि न मध्य सूझता अन्त ॥१६॥

शीश मुकुट कर गदाचक्र हैं
तेजराशि अतिय द्युतिमान ।
दुर्निरीक्ष्य पुनि अप्रमेय है,
दीप्त-अग्नि अरु सूर्य समान॥१७॥

तुम ज्ञातव्य परम अक्षर हो,

तुम इस जगके परम निधान ।
नित्य धर्म-रक्षक अविनाशी,
आदि पुरुष हो श्रीभगवान ॥१८॥
आदि, मध्य औ अन्त रहित शशि-
सूर्य नयन भुज बाहु अनन्त ।
मुखमें दीप्त अग्नि से दिखते,
हो स्वतेज से विश्व तपन्त ॥१९॥
सकल दिशायें, भू नभ अन्तर,
एक तुम्हीं से छाया है ।
अद्भुत उग्र रूप लख तेरा-
लोकत्रय डरपाया है ॥२०॥
ये सब देव समूह आप में,
समा रहे हैं हे देवेश !
डरे हुये कुछ हाथ जोड़ कर,
विनती करते हैं सर्वेश !

स्वस्ती ऐसा कहकर तुमको,
सिद्ध, महर्षी हे भगवान ।
बहुत भांतिकी स्तुतियों द्वारा,
करते हैं तेरा गुण गान ॥२१॥
पितर, मरुत, आदित्य, रुद्र, वसु,
साध्य, विश्व, अश्विनीकुमार ।
सिद्ध, असुर, गन्धर्व, यक्ष ये,
सारे विस्मित रहे निहार ॥२२॥
बहु मुख, नयन, उदर, पद, जंघा,
भुज अनेक डाढें विकराल ।
डरे हुये हैं लोक और मैं,
देख भयङ्कर रूप विशाल ॥२३॥
गगन-स्पर्शी दीप्त वर्ण बहु,
खुला दीप्त मुख नयन विशाल ।
देख हृदय व्याकुल है मेरा,

धैर्य शान्ति है नहीं कृपाल ॥२४॥
दाढ़ करालों वाले तव मुख,
प्रलय वह्नि की भांति निहार ।
दिशा न सूझे, शान्ति नहीं है,
हो प्रसन्न प्रभु जगदाधार ॥२५॥
सकल नृपों के वृन्द सहित ये,
सारे ही धृतराष्ट्र-कुमार ।
प्रमुख हमारे भी योधागण,
भीष्म, कर्ण अरु द्रोणाचार ॥२६॥
भयंकर भीषण दाढों वाले,
वेग मुखों में घुसते हैं ।
मस्तक चूर्ण हुये दांतों में,
कुछ ये अटके दिखते हैं ॥२७॥

तैसे तव प्रज्वलित मुखों में,
ये सब वीर समावत हैं ॥२८॥
जिस प्रकार जलती ज्वाला में,
दौड़ दौड़ कर गिरें पतंग ।
मरने को तव मुख में ऐसे,
गिरते लोक वेग के संग ॥२९॥
ज्वलित मुखों से निगल लोक सब,
चाट रहे हैं जिह्वा आप ।
प्रभो ! तेज से व्याप्त विश्व कर,
चमकें तव द्युति उग्र प्रताप ॥३०॥
कहो कौन हो उग्र रूप तुम,
हो प्रसन्न प्रभु ! तुम्हें प्रणाम ।
तव प्रवृत्ति का ज्ञान न मुझको,
बतलाओ आदी निज धाम ॥३१॥

श्रीभगवान् बोले—

मैं हूं काल लोक-क्षयकारी,
आया करने जन संहार ।
तुझ बिन भी ये नहीं रहेंगे,
योधा दोनों सैन्य मंझार ॥३२॥

इससे, उठ तू सुयश प्राप्त कर,
राज्य भोग रिपुगण को मार ।
मैंने ही सब मार दिये हैं,
तू निमित्त बन पाण्डुकुमार ॥३३॥

द्रोण, भीष्म औ कर्ण, जयद्रथ,
तथा अन्य सारे रणधीर ।
मेरे द्वारा मरे हुओं को-
मार विजय निश्चित है वीर ॥३४॥

संजय ने कहा—

यह सुन वचन कृष्णके अर्जुन,

कम्पित हुवा जोड़कर हाथ।
गदगद भय से ग्रस्त हुवा फिर,
कहने लगा नवा कर माथ ॥३५॥

अर्जुन बोले— (द्रुतविलम्बित छन्द)

उचित ही तव कीर्तनसे प्रभो!
जगत हर्षित औ अनुरक्त है।
असुरवृन्द भयातुर धावते,
सकल सिद्ध समूह नमैं तुम्हें ॥३६॥

क्यों न प्रणाम करें तुमको,
तुम आदि श्रेष्ठ विधिके कर्तार।
सत औ असत परे अक्षर तुम,
हो अनन्त प्रभु जगदाधार ॥३७॥

आदि देव तुम पुरुष पुरातन,
तुम इस जगके परम निधान।
ज्ञाता, ज्ञेय अरु परमधाम हो,

तुम से छाया विश्व महान ॥३८॥
वायु, अग्नि यम, वरुण, निशाकर,
तुम प्रपितामह विधि कर्तार ।
तुम्हें प्रणाम अनेकों भगवन् !
फिर फिर तथा हजारों बार ॥३९॥
आगे पीछे सभी ओर से,
हे सर्वात्मक ! तुम्हें प्रणाम ।
अतुल वीर्य तुम अमित पराक्रम,
सबके लय से सबके धाम ॥४०॥
हे यादव ! हे सखा कृष्ण जो,
हठ से कहा मित्र निज मान ।
यह तव महिमा नहीं जान कर,
प्रेम प्रमाद विवश भगवान ॥४१॥
या जब कभी हंसी में भगवन् !
किया आपका हो अपमान ।

खेल कूद, सोने, खाने में,
उठत बैठते में अनजान ॥
कहीं अकेले से ही अथवा,
जन समूह में हे महाराज !
अप्रमेय गुण वाले भगवन् !
उनको क्षमा करो सब आज ॥४२॥
पिता चराचर जग के हो तुम,
तथा पूज्य हो गुरु महान ।
तुम सम नहीं तीन लोकों में
अधिक कौन है प्रतिभावान ॥४३॥
अतः प्रणाम आपको करके,
झुका रहा हूँ अपना शीश ।
स्तुतिके योग्य आप हो भगवन्!
अब प्रसन्न हो जाओ ईश ॥
पिता पुत्रकी, सखा सखाकी,

प्रेमी निज प्रिय जनकी बात ।
जैसे सहते हैं ऐसे ही,
क्षमा करो मुझको भी तात ॥४४॥
हर्षित औ भयभीत हुवा मैं,
यह नवीन तव रूप निहार ।
वही रूप दिखलाओ मुझ को,
हो प्रसन्न प्रभु जगदाधार ॥४५॥
शीश मुकुट, कर गदा चक्र ले,
दिखलाओ फिर से वह रूप ।
हे हजार-भुज विश्व-रूप हरि,
धरो चतुर्भुज वही स्वरूप ॥४६॥

श्रीभगवान् बोले—

हो प्रसन्न दिखलाया तुझको,
तेज पुञ्ज निज विश्व स्वरूप ।
आद्य, अनन्त, न देखा तुझ बिन,

ऐसा कभी किसी ने रूप ॥४७॥
वेद, यज्ञ, स्वाध्याय कर्म से,
उग्र तपों से देकर दान।
मर्त्यलोक में किसी और को,
यह न दिखाऊं रूप सुजान ॥४८॥
ऐसा घोर रूप लख मेरा,
दुखित, मूढ मत हो तू पार्थ!
हो प्रसन्न मन निर्भय फिर से,
देख वही मम रूप यथार्थ ॥४९॥

संजय बोले—

यह कह अर्जुन को केशव ने,
दिखलाया निज वही स्वरूप।
धैर्य बंधाया डरे हुये का,
फिर से बन कर सुन्दर रूप ॥५०॥

अर्जुन बोले—

केशव, ! मानुष सौम्य रूप को,
देख तुम्हारे हुवा प्रसन्न ।
निज स्वभाव को प्राप्त हुवा अब
मन भी मेरा हुवा अखिन्न ॥५१॥

श्री भगवान् बोले—

अर्जुन ! जो तूने देखा है,
मेरा यह दुर्दर्श स्वरूप ।
नित्य देवगण भी इच्छुक हैं,
कैसे देखें ऐसा रूप ॥५२॥

वेद, यज्ञ, तप, दानों से भी,
ऐसा मेरा रूप महान ।
दीख न सकता और किसी को,
जैसा तूने लखा सुजान ॥५३॥

किन्तु अनन्य भक्ति के द्वारा,

भक्त लोग मुझको निःशेष।
तत्वभाव से जानें देखें,
तथा मुझी में करें प्रवेश ॥५४॥
मेरे लिये कर्म जो करता,
हो मम भक्त संग से हीन।
मत्पर हो निर्वैर सभी से,
वह होता है मुझ में लीन ॥५५॥
इति एकादशो अध्यायः।

द्वादशो अध्यायः।

अर्जुन बोले—
नित्य युक्त जो सगुण उपासक,
या जो निर्गुण ध्याता हैं।
इन दोनों में नाथ! कौन से,
अधिक योग विज्ञाता हैं ॥१॥

श्री भगवान् बोले—

अति श्रद्धा के सहित लगाकर,
मन जो करते मेरा ध्यान ।
नित्य युक्त हो, मेरे मन से,
उनको उत्तम योगी मान ॥२॥

जो अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव,
व्यापक है अव्यक्त महान ।
अकथनीय औ अविनाशी है,
उसका भी जो करते ध्यान ॥३॥

इन्द्रियगण को बश में करके,
सब में तुल्य बुद्धि हो पार्थ ।
सब के हित में लगे हुये वे,
मुझ को ही हों प्राप्त यथार्थ ॥४॥

जो अव्यक्त उपासक हैं जन,
वे पाते हैं क्लेश महान ।

क्योंकि देहधारी को यह गति,
दुख से मिलती है यह जान ॥५॥
जो तो मेरे हुए परायण,
सब कर्मों को मुझ में त्याग ।
तथा अनन्य योग से मेरा-
धरें ध्यान भजते बड़भाग ॥६॥
मुझमें चित्त लगा है जिन का,
उन भक्तों का पाण्डुकुमार !
मृत्यु रूप इस भवसागर से,
जल्दी करता हूं उद्धार ॥७॥
मुझ में मन को जोड़ मुझी में,
बुद्धी को करदे तल्लीन ।
मुझ में ही फिर बास करेगा,
यह निश्चय है संशय हीन ॥८॥
यदि अपने मन को तू मुझ में,

कर न सके एकाग्र यथार्थ ।
तो अभ्यास योग से मुझको,
पाने को इच्छुक हो पार्थ ! ॥९॥
हो न सके अभ्यास योग तो,
मेरे लिये कर्म कर पार्थ ।
मेरे लिये कर्म करके भी,
प्राप्त करेगा सिद्धि यथार्थ ॥१०॥
ऐसा भी यदि कर न सके तो,
आश्रित करके मेरा योग ।
मन को वश में करके तज दे,
सब कर्मों के फल का भोग ॥११॥
ज्ञान श्रेष्ठ अभ्यास योग से,
तथा ज्ञान से बढ़ कर ध्यान ।

श्रेष्ठ कर्म फल-त्याग ध्यान से,
शान्ति त्याग से हो यह जान॥१२॥
जो दयालु हो द्वेष रहित हो,
सब भूतों का सखा महान।
अहंकार ममता विहीन हो,
क्षमाशील, सुख दुःख समान॥१३॥
दृढ़-निश्चयी संयमी योगी,
सदा रहे संतुष्ट महान।
मुझ में अर्पण करे बुद्धि मन,
वह मेरा प्रिय भक्त सुजान॥१४॥
जिससे जग उद्विग्न नहीं हो,
जो न खिन्न हो जगसे पार्थ!
हर्ष, क्रोध, भय, उद्वेगों से,
रहित मुझे प्रिय जान यथार्थ॥१५॥
जो निरपेक्ष, पवित्र, चतुर हो,

उदासीन हो भयसे त्यक्त (रहित)
सब आरम्भ तजे हों जिसने,
वह मुझको प्यारा है भक्त ॥१६॥
द्वेष न करे न हर्षित हो जो,
शोक न करे न इच्छा पार्थ ।
भले बुरे का त्यागी हो वह,
भक्त मुझे प्रिय जान यथार्थ ॥१७॥
शत्रु, मित्र, मानापमान में,
जो जन रहता एक समान ।
शीत, उष्ण, सुख दुखमें सम हो,
तथा संग से रहित सुजान ॥१८॥
मौनी यथा-लाभ-सन्तोषी,
निन्दा स्तुति में एक समान ।
निश्चल मति, घर बार न जिसके,
भक्तिमान् वह मम प्रिय जान॥१९॥

धर्म रूप इस अमृत का जो,
मत्पर श्रद्धा सहित सुजान।
करते हैं आचरण यथा विधि,
वे मुझको अतिशय प्रिय जान॥२०॥

॥ इति द्वादशोऽध्यायः ॥

* अथ त्रयोदशोऽध्यायः *

यह शरीर हे कुन्तीनन्दन!
क्षेत्र कहाता है यह जान।
अरु क्षेत्रज्ञ इसे जो जाने,
उसको कहते हैं विद्वान ॥१॥
क्षेत्रज्ञ भी सब क्षेत्रों में,
अर्जुन! मुझको ही तू जान।
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ज्ञान ही,
बस मेरा अभिमत है ज्ञान ॥२॥

वह क्षेत्र जैसा जो कुछ है,
जिससे जिस विकार संयुक्त ।
क्षेत्रज्ञ जो जिस प्रभाव का,
यह तू सुन मुझसे संक्षिप्त ॥३॥
बहुत भांति ऋषियों ने गाया,
छन्दों ने भी विविध प्रकार ।
ब्रह्मसूत्र में निश्चित हेतू-
युक्त पदों से किया विचार ॥४॥
महाभूत औ अहंकार ये
बुद्धि तथा अव्यक्त महान ।
मन के सहित इन्द्रियां ग्यारह,
विषय पांच इन्द्रियके जान ॥५॥
सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, चेतना,
धैर्य तथा इनका संघात ।
सह विकार संक्षेप रूप से,
इसे क्षेत्र कहते हैं तात ॥६॥

निरभिमानिता, दम्भहीनता,
शुद्धि, सरलता, शान्ति महान।
गुरु की सेवा मन का निग्रह,
जीव अहिंसा स्थिरता जान ॥७॥
इन्द्रिय विषयों से विराग हो,
अहंकार से रहित यथार्थ।
जन्म मरण औ जरा व्याधि दुख,
इनमें दोष-दृष्टि हो पार्थ ॥८॥
सुत, दारा, घर आदिक में जो,
अनासक्त हो विना लगाव।
इष्ट अनिष्ट प्राप्ति में जिसके,
सदा चित्त का हो सम भाव ॥९॥
और अनन्य योग से जिसकी,
मुझ में होवे निश्चल भक्ति।
रमण करे एकान्त देश में,

जन समूह में तथा विरक्ति ॥१०॥
लगा रहे अध्यात्म ज्ञान में,
तत्त्व वस्तु का करे विचार ।
इतना ज्ञान कहा है इसके,
विना सकल अज्ञान निहार ॥११॥
जिसे जान हो अमर तुझे वह,
कहता हूं ज्ञातव्य पदार्थ ।
आदि रहित वह परब्रह्म है,
सत औ असत नहीं वह पार्थ ॥१२॥
हाथ, पैर, मुख, शीश, नयन ये,
उसके हैं सब ओर सुजान ।
सभी ओर कानों वाला वह,
व्याप रहा है विश्व महान ॥१३॥
इन्द्रियगण-गुण से प्रतीत हो,
वह है इन्द्रिय रहित सुजान ।

है असक्त पर सबका पालक,
निर्गुण भी गुण भोगी जान ॥१४॥
चर औ अचर वही भूतों के,
भीतर औ बाहर भरपूर ।
है अज्ञेय सूक्ष्म होने से,
वही पास है वह है दूर ॥१५॥
एक हुवा भी सब भूतों में,
भिन्न रूप है पारथकुमार ।
वह है ज्ञेय तथा उत्पादक,
पालक वह करता संहार ॥१६॥
सकल ज्योतियों में वह ज्योती,
कहलाता है तम से पार ।
ज्ञाता ज्ञेय वह ज्ञान-गम्य है,
सब के हिय में करत विहार ॥१७॥
यह संक्षेप रूप से अर्जुन !

कहा क्षेत्र, ज्ञेय, अरु ज्ञान ।
मेरे भाव को पाता है जो,
मेरा भक्त इसे ले जान ॥१८॥
प्रकृति, पुरुष दोनों ही अर्जुन !
हैं अनादि ऐसा तू जान ।
सकल विकारों और गुणों को,
प्रकृती से ही जन्मा मान ॥१९॥
कारण और कार्य रचने में,
प्रकृति हेतु है ऐसा जान ।
पुरुष सकल सुख दुःख भोग में,
हेतु कहाता है मतिमान ॥२०॥
पुरुष प्रकृति में स्थित हो करता,
प्रकृति-जन्य गुणका उपभोग ।
अच्छी बुरी योनि जन्मों में,
कारण इसका गुण संयोग ॥२१॥

सब का साक्षी अनुमोदक जो,
भर्ता, भोक्ता और महेश ।
परमात्मा भी कहलाता है,
इस तन में पर पुरुष विशेष ॥२२॥
सहित गुणों के पुरुष प्रकृति का,
इस प्रकार हो जिसको ज्ञान ।
कैसे भी वह बर्ते उसका,
पुनर्जन्म हो नहीं सुजान ॥२३॥
आत्मा को आत्मा में कोई,
आत्मा से देखें कर ध्यान ।
तथा दूसरे सांख्य-योग से,
कर्म योग से अन्य सुजान ॥२४॥
दूजे नहीं जान कर ऐसे,
औरों से सुन करते ध्यान ।
सुने हुये में निरत हुये वे,

भी मृत्यू को तरैं सुजान ॥२५॥
भरतश्रेष्ठ ! जो कुछ है जग में,
स्थावर जंगम रूप पदार्थ ।
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ मेल से,
जन्में, ऐसा जान यथार्थ ॥२६॥
सब भूतों में परमेश्वर को,
रहता देखे एक समान ।
अविनाशी नश्वर जीवों में,
वही देखता है मतिमान ॥२७॥
ईश्वर को जब सभी जगह में,
सम लखने लग जाता है ।
निज से निज का बध न करे तब,
परमगति को पाता है ॥२८॥
सभी कर्म माया से होते,
जिसको ऐसा होता ज्ञान ।

लखे अकर्त्ता आत्मा को जो,
वही देखता है मतिमान ॥२९॥
सब भूतों के न्यारेपन को,
जभी एक में लखे सुजान ।
उस से ही विस्तार सकल का,
तब होता है ब्रह्म-ज्ञान ॥३०॥
यह अनादि निर्गुण होने से,
परमात्मा है रहित विकार ।
कर्म न करता लिप्त न होता,
देह-स्थित भी पाण्डुकुमार ॥३१॥
जैसे गगन सूक्ष्म होने से
सर्व-व्यापी रहे अलिप्त ।
तैसे सकल देह में स्थित भी
आत्मा कभी न होता लिप्त ॥३२॥
करे प्रकाशित इस सब जग को,

जैसे एक सूर्य भगवान ।
ऐसे क्षेत्री सकल क्षेत्र को,
करे प्रकाशित पार्थ सुजान ॥३३॥
ज्ञान-दृष्टि से जीव देह का,
भेद जान जो जाते हैं ।
भूत प्रकृति अरु मोक्ष जानते,
वही परम पद पाते हैं ॥३४॥

॥ इति त्रयोदशोऽध्यायः ॥

* अथ चतुर्दशोऽध्यायः *

श्रीभगवान् बोले—

फिर भी तुझे बताऊंगा मैं,
सब ज्ञानों से उत्तम ज्ञान ।
परम सिद्धि को गये यहां से,
जिसको मुनि जन पहले जान ॥१॥
इसी ज्ञान का आश्रय लेकर,

मुझ से होते हुये अभिन्न।
जन्म न पाते सृष्टि काल में,
नहीं प्रलय में होते खिन्न ॥२॥
मेरी प्रकृति योनि है उसमें,
मैं कर्ता हूं गर्भाधान।
भारत! तभी सकल भूतों का,
उद्भव होता है यह जान ॥३॥
सर्व योनियों में जो अर्जुन!
जन्म मूर्तियां पाती हैं।
मैं हूं पिता बीज-प्रद उनका,
प्रकृति योनि कहलाती हैं ॥४॥
सत रज तम ये तीनों ही गुण,
जन्म प्रकृति से पाते हैं।
अर्जुन! इस अव्यय देही के,
ये बन्धन बन जाते हैं ॥५॥

इनमें सत्व विमल होने से,
निरूपद्रवी प्रकाशक आप ।
सुख अरु ज्ञान संग के द्वारा,
बन्धन करता है निष्पाप ! ॥६॥
तृष्णा संग बढाने वाला,
राग रूप रज है यह जान ।
कर्म संग से यह देही को,
बन्धन करता है मतिमान ॥७॥
सब जीवों के मोहक तम का,
कारण जानों तुम अज्ञान ।
यह प्रमाद आलस्य नींद से,
भारत ! बन्धन करे महान ॥८॥
सुख में जोड़े सत्व, रजोगुण,
भारत ! कर्म कराता है ।
आवृत करके ज्ञान तमोगुण,

यह प्रमाद फैलाता है ॥९॥
तिरस्कार कर रज औ तम का,
पार्थ सत्व बढ जाता है ।
तम, सत रज से, रज, सत तम से,
इस प्रकार चढ़ जाता है ॥१०॥
सब द्वारों में इस शरीर के,
उपजे सकल प्रकाशक ज्ञान ।
जब तब सत्व बढ़ा होता है,
ऐसा निश्चय लेवे जान ॥११॥
कर्मारम्भ, प्रवृत्ति लोभ औ,
इच्छा तथा अशान्ति महान ।
जब यह होते हैं अर्जुन !
तब बढ़ा हुआ रज है यह जान ॥१२॥
अप्रकाश औ अरुचि कर्म में,
हो प्रमाद पुनि मोह महान ।
कुरुनन्दन ! जब बढ़े तमोगुण,

तब ये लक्षण हों यह जान ॥१३॥
जब कि सतोगुण बढ़े हुये में,
करता देही देह समाप्त ।
तब उत्तम शुभ तत्वज्ञों के,
निर्मल लोकों को हो प्राप्त ॥१४॥
मरे रजोगुण के बढ़ने पर,
कर्म संगियों में तनु पाय ।
तथा तमोगुण में मरने से,
मूढ़ योनियों में भटकाय ॥१५॥
लोभ रजोगुण से होता है,
हो उत्पन्न सत्व से ज्ञान ।
तथा तमोगुण से होते हैं,
मोह, प्रमाद और अज्ञान ॥१६॥
सात्विक ऊर्ध्व लोक को जाते,
राजस मध्य लोक ठहरांय ।
नीच तामसी वृत्ती वाले,
प्राणी अधोलोक को जांय ॥१७॥

जब द्रष्टा को अन्य गुणों से,
कर्त्ता दृष्टि न आता है।
लखे आत्म को परे गुणों से,
तब मम भाव समाता है ॥१८॥
देह बीज इन तीन गुणों का,
जो जन अतिक्रमण*कर जाय*पार
जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, दुःख से,
वह छुट अमरलोकको पाय ॥१९॥

अर्जुन बोले—

गुणातीत के लक्षण क्या हैं,
कैसा है उसका आचार !
प्रभो ! किस तरह हो सकता है,
जन इन तीन गुणों से पार ॥२०॥

श्रीभगवान् बोले—

जो हो पार्थ ! प्रकाश प्रवृत्ती,

तथा मोह से बे परवाह ।
इनके होते द्वेष न करता,
मिट जाने पर करे न चाह ॥२१॥
उदासीन की भांति रहे औ,
नहीं गुणों से जो विचलाय ।
गुण को गुण में लखे वर्तते,
ऐसे जो निश्चल ठहराय ॥२२॥
सुख, दुखमें सम, स्वस्थ, जिसे हो,
मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण समान ।
धीर तथा प्रिय अप्रिय में सम,
जिसे तुल्य निन्दा सम्मान ॥२३॥
मान तथा अपमान तुल्य हों,
शत्रु मित्र के पक्ष समान ।
सब आरम्भ परित्यागी को,
गुणातीत कहते मतिमान ॥२४॥

जो जन निश्चल भक्ति योग से,
मुझे निरन्तर ध्याता है।
वह इन तीन गुणोंको लंघ कर,
ब्रह्म रूप हो जाता है ॥२५॥
अमृत अव्यय ब्रह्म तत्त्व का,
मुझको निश्चय आश्रय जान।
नित्य धर्म औ शाश्वत सुखका,
भी मैं ही हूँ वास स्थान ॥२६॥

॥ इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

* अथ पञ्चदशोऽध्यायः *

ऊपर जड़ नीचे शाखें,
अव्यय अश्वत्थ कहाता है।
हैं पत्र वेद, जो उसको जाने,
वही वेद विज्ञाता है ॥१॥
विषयांकुरित प्रवृद्ध गुणों से,

नीचे ऊपर शाखें व्याप्त ।
मर्त्य लोक में कर्म-बन्ध जड़,
छाईं नीचे को पर्याप्त ॥२॥
यहां न इसका रूप मिले वह,
आदि न मध्य नहीं अवसान ।
बद्ध-मूल अश्वत्थ वृक्ष का,
कर निःसंग-शस्त्र से हान ॥३॥
खोजे फिर वह धाम जहां जा,
जीव न फिर आते मतिमान ।
आदि पुरुष जो जगका कारण,
उसे भजूँ ऐसा ले जान ॥४॥
ज्ञानी संग-दोष जय करके,
रमे सदा अध्यात्म अकाम ।
मान मोह, सुख दुःख द्वन्द्व तज,
पाते हैं वह अव्यय धाम ॥५॥

नहीं प्रकाशित करते जिसको,
सूर्य, चन्द्रमा, पावक ग्राम ।
जहां गये फिर नहीं लौटते,
वह है मेरा उत्तम धाम ॥६॥
जीव लोक में जीव सनातन,
मेरा ही है अंश प्रधान ।
ज्ञानेन्द्रिय मन प्रकृति स्थितको,
आकर्षित करता यह जान ॥७॥
जिस शरीर को छोड़ दूसरे,
जिस शरीर में जाता है ।
पुष्पों से ज्यों वायु गन्ध को,
यह इनको ले जाता है ॥८॥
जिह्वा, त्वचा, नासिका, चक्षु,
कान तथा मन का संयोग ।
इनका आश्रय करके देही,

करता है विषयों का भोग ॥९॥
देह त्यागते को औ स्थित को,
गुणों सहित करते को भोग ।
देख न पाते अज्ञानी जन,
देखें ज्ञान दृष्टि के लोग ॥१०॥
कर प्रयत्न इसको योगी जन,
आत्म स्थितको लखैं सुजान ।
यत्न किये भी मूढ़मती जन,
देख नहीं पाते अज्ञान ॥११॥
जो है तेज सूर्य में जिससे,
सकल प्रकाशित विश्व महान ।
तथा चन्द्र में और अग्नि में,
है वह बस मेरा ही जान ॥१२॥
मैं भूतों को धारण करता,
निज बल से कर भूमि प्रवेश ।

सब औषधियां पुष्ट करूँ मैं,
हो करके रसमय राकेश*१३॥ *चंद्रमा
वैश्वानर बन सब भूतों के,
देहों का लेकर आधार।
प्राण अपान युक्त होकर मैं,
अन्न पचाता चार प्रकार॥१४॥
मैं सबके हियमें स्थित मुझसे
होते स्मृति, ज्ञान, अज्ञान।
वेद-वेद्य वेदान्त रचैय्या,
मैं ही रहा वेद को जान॥१५॥
क्षर औ अक्षर दो प्रकार के,
जग में हैं ये पुरुष सुजान।
सब भूतों को कहते हैं क्षर,
अक्षर है कूटस्थ महान॥१६॥
उत्तम पुरुष अन्य है इनसे,

परमात्मा है उसका नाम ।
ईश्वर अव्यय जो त्रिलोक में,
कर प्रवेश पालै निष्काम ॥१७॥
जिससे मैं हूँ क्षर अतीत औ,
अक्षर से भी उत्तम हूँ ।
इस से लोक वेद में मैं ही,
कहलाता पुरुषोत्तम हूँ ॥१८॥
इस प्रकार मुझ पुरुषोत्तम को,
मोह रहित जो लेता जान ।
वह सर्वज्ञ सकल भावों से,
भारत ! मुझको भजे सुजान ॥१९॥
यह अति गोप्य शास्त्र है जिसका,
अर्जुन ! मैंने किया बखान ।
इसे जान कर निश्चय भारत !
हो कृतकृत्य तथा मतिमान ॥२०॥

॥ इति पञ्चदशोऽध्यायः ॥

* अथ षोड़शोऽध्यायः *

अन्तःकरण शुद्ध हो निर्भय,
ज्ञान योग में स्थिरता जान।
स्वाध्याय, तप, यज्ञ करे जो,
इन्द्रिय दमन सरलता दान ॥१॥
सत्य, अहिंसा, क्रोध रहित हो,
त्याग अपैशुनभाव, प्रशान्त।
मृदुता, दया, न लालचपन हो,
अचपल, लज्जाशील नितान्त ॥२॥
क्षमा, धैर्य, अद्रोह, शुद्धता,
तेजास्विता न हो अतिमान।
दैवी प्रकृतिजन्य पुरुषों के,
ये गुण होते हैं मतिमान ॥३॥
दम्भ, क्रोध, अभिमान दर्प हो,
रूखापन हो पुनि अज्ञान।

ये आसुरी प्रकृति वालों के,
लक्षण होते हैं यह जान ॥४॥
मोक्षदायिनी दैवी सम्पद्,
तथा आसुरी बन्धक जान ।
दैवी प्रकृति जन्य है इससे,
शोक न कर तू पार्थ सुजान॥५॥
आसुर, दैव जगत् में ये दो,
भूत सर्ग कहलाते हैं ।
दैव कहा विस्तार सहित अब,
आसुर पार्थ सुनाते हैं ॥६॥
क्या प्रवृत्ति, क्या है निवृत्तियह,
नहीं जानते असुर स्वभाव ।
शुचिता अरु आचार न उनमें,
होता नहीं सत्य का भाव ॥७॥
वे बतलाते जग को झूठा,

ईश्वर रहित विना आधार ।
मिथुन भाव से पैदा होना,
काम प्रेरणा-वश संसार ॥८॥
अल्प बुद्धि नष्टात्मा प्राणी,
इस विचार का ले आधार ।
अहित क्रूर-कर्मा वे जन्में,
करने को जग का संहार ॥९॥
दम्भी, मानी तथा घमण्डी,
अति दुष्पूर कामना धार ।
मोह विवश हो अशुभ निश्चयी,
सदा वर्तते, पापाचार ॥१०॥
मरण काल तक विविध भांतिकी,
अगणित चिन्ताओं से व्याप्त ।
बस इतना निश्चय है उनका,
विषय भोग भोगें पर्याप्त ॥११॥

आशा जालों में जकड़े औ,
काम, क्रोध से हो भरपूर ।
काम, भोग हित धनका संचय,
वे अनीति से चाहें क्रूर ॥१२॥
यह तो आज पा लिया मैंने,
यह भी पूरा होगा काम ।
इतना धन है मेरा, यह भी-
होगा फिर मेरा धन धाम ॥१३॥
यह रिपु मैंने मार दिया अब,
औरों के भी लूँगा प्रान ।
मैं समर्थ हूँ भाग्यवान हूँ.
सिद्ध, सुखी हूँ मैं बलवान ॥१४॥
मो सम और कौन है जग में,
मैं कुलीन हूँ अति धनवान ।
यज्ञ, दान, सुख भोग करूँगा,

ऐसे मुग्ध हुए अज्ञान ॥१५॥
बहुत भांतिसे भ्रान्त चित्तहो,
मोह जाल में हुये प्रसक्त ।
वे अपवित्र नरक में पड़ते,
काम भोग में हो आसक्त ॥१६॥
आत्म-प्रशंसी, ढीठ तथा धन,
और मान मनवाले अज्ञ ।
विधि विहीन पाखण्ड सहित वे,
करते नाम मात्र के यज्ञ ॥१७॥
अहंकार, बल, गर्व, काम में,
तथा क्रोध में निरत विशेष ।
मुझ से निज औ पर शरीरमें,
निन्दक जन करते हैं द्वेष ॥१८॥
द्वेषी, क्रूर अशुभ कर्मों के,
कर्ता हैं जो जग में नीच ।

उनको सदा फैंकता रहता—
हूँ मैं असुर योनियों बीच ॥१९॥
ऐसे मूढ़ जन्म जन्मों में,
योनि आसुरी पाते हैं।
मुझे न पाकर फिर २ अर्जुन !
अधम योनि को जाते हैं ॥२०॥
आत्मनाश के करने वाले,
ये हैं त्रिविध नरक के द्वार।
काम, क्रोध, अरु लोभ, इसलिये,
इन्हें त्याग दे पाण्डुकुमार ॥२१॥
जो इन तीन नरक द्वारों से,
कौन्तेय ! छुट जाता है।
वह निज श्रेय साधता है,
औ परमगती को पाता है ॥२२॥
जो कि शास्त्रकी विधिको तजकर,

मनमाने करता है काम।
वह न सिद्धि या सुख पाता है,
तथा न पावे उत्तम धाम ॥२३॥
कार्य, अकार्य व्यवस्था में सो,
मानो शास्त्र प्रमाण यथार्थ।
शास्त्र विधान जान कर पहले,
करना कर्म उचित है पार्थ ॥२४॥
॥ इति षोड़शोऽध्यायः ॥

* अथ सप्तदशोऽध्यायः *

त्याग शास्त्र विधि, श्रद्धायुत जो,
करते रहते यज्ञ सुदान।
क्या है उनकी निष्ठा? सत है,
अथवा रज, तम है भगवान ॥१॥
तीन भांति की श्रद्धा सब में,
स्वाभाविक होती है पार्थ।

एक सात्त्विकी और राजसी,
तथा तामसी सुनो यथार्थ ॥२॥
मति अनुसार सभी में भारत!
श्रद्धा होती है यह जान।
श्रद्धामय यह पुरुष जिसे जो,
श्रद्धा हो उसको वह मान ॥३॥
सात्त्विक पूजें देव, राजसिक,
यक्ष, राक्षस भजते तात?
प्रेत और भूतों के गण को,
भजें तामसिक जन दिनरात॥४॥
शास्त्र विरुद्ध घोर तप जो जन,
तपते हैं निज मति अनुसार।
अहंकार पाखण्ड सहित औ,
काम, राग, साहस उरधार ॥५॥
देह स्थित सब भूतों को औ,

मुझ को भी वे जन अज्ञान।
देते हैं अति कष्ट निरन्तर,
उनका आसुर निश्चय जान ॥६॥
जो सबको प्रिय लगता है वह,
तीन भांति का है आहार।
यज्ञ, दान, तप तीन २ हैं,
इनके भेद सुनो चित धार ॥७॥
प्रीति, बुद्धि, आरोग्य तथा सुख,
आयु विवर्द्धक औ बलकार।
चिकने, स्थिर अरु हृद्य रसीले,
सात्विक जनके प्रिय आहार॥८॥
खारे, खट्टे, गरम, चरपरे,
रूखे, तीखे, दाहक अन्न।
रोग, शोक, दुखदायक इनको,
प्रिय मानें रज गुण सम्पन्न ॥९॥

ठंडा, नीरस, बासी, झूठा,
जिसमें हो दुर्गन्धि महान ।
औ अपवित्र, तामसिक जनको,
ऐसा भोजन प्यारा जान ॥१०॥
शान्त चित्त कर्तव्य भाव से,
किया जाय जो विधि अनुसार ।
जिसमें फल की चाह नहीं हो,
उसको सात्विक यज्ञ विचार ॥११॥
फल की इच्छा रखके अथवा,
दम्भ हेतु जो यज्ञ महान ।
किया जाय हे भारत! उसको,
कहते राजस यज्ञ सुजान ॥१२॥
विना शास्त्र विधि, मंत्र हीन जो,
अन्न दक्षिणा रहित सुजान ।
ऐसे श्रद्धा रहित यज्ञ को

तामस कहते हैं मतिमान ॥१३॥

देव, गुरु, द्विज, प्राज्ञ पूजना,
शुद्धि, सरलता का व्यवहार।
ब्रह्मचर्य हो तथा अहिंसा,
कायिक तप ये पाण्डुकुमार ?॥१४॥

जो न करे उद्वेग किसी को,
वचन सत्य, प्रिय, हितकर पार्थ !
सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय ये,
वाणी के तप जान यथार्थ ॥१५॥

हो प्रसन्न मन सौम्य भाव हो,
मौन तथा हो आत्म-दमन ।
शुद्ध पवित्र भाव हों इनको,
मन का तप कहते बुध जन ॥१६॥

फलको आशा तज स्थिर मनसे,
अति श्रद्धाके सहित सुजान ।

ये तीनों तप किये जांय तो,
सात्विक कहते हैं मतिमान ॥१७॥
जो सत्कार, मान, पूजा हित,
करें दम्भ से या अज्ञान ।
अस्थिर और अनिश्चित ऐसे,
तप को राजस कहें सुजान ॥१८॥
करे दुराग्रह से निज को,
पीड़ा देकर तप अज्ञान ।
अथवा पर विनाश हित ऐसे,
तप को तामस कहें सुजान ॥१९॥
धर्म जानकर अनुपकारि के,
लिये दिया जाता जो दान ।
उचित देश औ काल पात्र में,
उसको कहते सात्विक-दान ॥२०॥
बदले में उपकार चाह कर,

अथवा फल का कर उद्देश ।
राजस दान कहाता है वह,
जिसके देने में हो क्लेश ॥२१॥
अनुचित देश, काल में अथवा,
जो कुपात्र में कर अपमान ।
बिन सत्कार दिया जाता है,
उसको कहते तामस दान ॥२२॥
ओ३म् तत् सत इस प्रकार यह,
त्रिविध ब्रह्म का निर्देश ।
आदि काल में वेद, ब्राह्मण,
रचे इसी से यज्ञ विशेष ॥२३॥
इससे प्रथम ओ३म् यह कहकर,
यज्ञ, दान, तप आदिक काम ।
विधि अनुसार हुवा करते हैं,
ब्रह्मवादियों के अविराम ॥२४॥

तत् ऐसा कह फल न चाह कर,
दान, यज्ञ, तप आदिक कार्य।
विविध भांति से मुमुक्षुओं से,
सदा किये जाते हैं आर्य ॥२५॥
श्रेष्ठ भाव औ सत्ता इनमें,
होता है सत् शब्द प्रयुक्त।
तथा अन्य शुभ कर्मों में भी,
होता है सत् पद उपयुक्त ॥२६॥
यज्ञ, दान, तपमें भी स्थिरता,
को सत कहते हैं विद्वान।
उसके लिये कर्म करना भी,
सत कहलाता है यह जान ॥२७॥
बिन श्रद्धा के यज्ञ, दान, तप,
तथा अन्य बहु कर्म सुजान।

उभय लोक में लाभ न इन से
इन्हें असत् कहते मतिमान ॥२८॥
॥ इति सप्तदशोऽध्यायः ॥

* अथ अष्टादशोऽध्यायः *

अर्जुन बोले—

महाबाहु ! संन्यास तत्त्व का,
किस प्रकार हो मुझको ज्ञान ।
इससे पृथक् त्याग क्या है यह,
कहिये हृषीकेश भगवान ॥१॥
है संन्यास काम्य० कर्मों का-(*सकाम)
तजना यह मानें विद्वान ।
सब कर्मों के फल को तजना,
त्याग बताते चतुर सुजान ॥२॥
दोष युक्त सब कर्म त्याज्य हैं,
ऐसा कहते कुछ मतिमान ।

कुछ कहते ये त्याज्य नहीं हैं,
यज्ञ, दान, तप करें सुजान ॥३॥
भरतश्रेष्ठ ! अब त्याग विषयमें,
मेरा भी निश्चय तू जान ।
पुरुषोत्तम ! है तीन भांतिका-
त्याग जगत् में ऐसा मान ॥४॥
त्याज्य नहीं हैं यज्ञ, दान, तप-
रूप कर्म किन्तु हैं कार्य ।
यज्ञ, दान, तप विद्वानों को,
पावन कर देते हैं आर्य ॥५॥
ये भी कर्म संग औ फल को,
तजकर हैं कर्त्तव्य यथार्थ ।
ऐसा है मेरा निश्चित औ,
उत्तम मत यह जानों पार्थ ॥६॥
निश्चित किये कर्मका तजना,

उचित नहीं है कभी सुजान ?
मोह विवश उसके तजने को,
तामस त्याग कहैं मतिमान ॥७॥
दुःख मानकर देह-क्लेश के,
भय से जो करता है त्याग ।
नहीं त्याग का फल पाता वह,
करके ऐसा राजस-त्याग ॥८॥
है कर्त्तव्य, जान कर ऐसा,
नियत कर्म जो करे सुजान ।
संग और फल आशा तजकर,
सात्विक त्याग उसीको जान॥९॥
बुरे कर्म से द्वेष न करता,
तथा भले से जो अनुराग ।
त्यागी, सत्वनिष्ठ, मेधावी,
संशय-मुक्त वही बड़भाग ॥१०॥

नहीं सर्वथा तनुधारी से,
कर्म त्याग हो पाता है।
पर जो कर्म फलों को त्यागे,
वह त्यागी कहलाता है ॥११॥
शुभ औ अशुभ, शुभाऽशुभ हैं जो,
कर्मों के फल तीन प्रकार।
फलासक्त पाते हैं मर कर,
कभी न त्यागी पाण्डुकुमार ?॥१२॥
सांख्य शास्त्र में सब कर्मोंकी,
सिद्धी के कारण जो पार्थ ?
पांच भांति के बतलाये हैं,
उनको मुझ से जान यथार्थ ॥१३॥
यह शरीर औ जीव आत्मा,
भांति भांतिके करण सुजान।
विविध भांति नाना चेष्टायें,

तथा पांचवां दैव पिछान ॥१४॥
मन, शरीर, वाणी से जो कुछ,
कर्म करे आरम्भ सुजान ।
शुभ हो अथवा अशुभ पांच ये,
उसमें कारण हैं यह जान ॥१५॥
तिस पर भी जो दुर्मति केवल,
आत्मा को करता ले जान ।
उसकी मति संस्कार हीन है,
इससे वह न लखे अज्ञान ॥१६॥
अहंकार का भाव न जिसमें,
बुद्धि न जिसकी होती लिप्त ।
वह इन सब लोकोंका बधकर,
भी न मारता रहता मुक्त ॥१७॥
तीन भांति है कर्म प्रेरणा,
ज्ञाता तथा ज्ञेय अरु ज्ञान ।

कर्त्ता, कर्म, करण ऐसे हैं,
त्रिविध कर्म संग्रह यह जान ॥१८॥
गुण भेदों से ज्ञान, कर्म औ,
कर्त्ता के भी तीन प्रकार ।
सांख्य शास्त्रमें कहे यथाविधि,
उनको भी सुन पाण्डुकुमार ॥१९॥
जिससे सब भूतों में अव्यय,
भाव निरखता एक समान ।
भिन्न २ में जो अभिन्न हो,
उसको जानों सात्विक ज्ञान॥२०॥
भिन्न भिन्न नाना भावों को
सब भूतों में पार्थ सुजान ?
पृथक् पृथक् कर जानें जिससे,
उसको जानो राजस ज्ञान ॥२१॥
जिससे एक कार्य में जुटता,

सब कुछ उसको ही ले जान।
तुच्छ, युक्ति, तत्वार्थ शून्य वह,
उसको कहते तामस ज्ञान ॥२२॥
राग, द्वेष औ संग रहित हो,
फल की इच्छाका कर त्याग।
नियत कर्म जो किया जाय वह,
सात्विक कहलाता बड़भाग ॥२३॥
जो तो फल की आशा से या,
अहंकार के सहित सुजान ?
किया जाय अति श्रमसे उसको,
राजस कर्म कहें विद्वान ॥२४॥
निज पौरुष, पर-पीड़ा हानी,
तथा विना सोचे परिणाम।
किया जाय जो मोह विवश हो,
उसको कहते तामस काम ॥२५॥

अहंकार औ संग रहित जो,
धैर्य तथा उत्साह-निधान ।
सिद्धि असिद्धी सम हों जिसको,
उसको सात्विक कर्त्ता जान ॥२६॥
फलका इच्छुक, रागी, लोभी,
तथा अपावन हिंसावान ।
हर्ष तथा जो शोकयुक्त हो,
उसको राजस कर्ता जान ॥२७॥
जो कि असभ्य घमंडी चञ्चल-
मन औ धूर्त कपट की खान ।
दुखी, आलसी, चिरकारी हो,
उसको तामस कर्त्ता मान ॥२८॥
गुण अनुसार बुद्धि औ धृतिके,
तीन तीन ही भेद पिछान ।
पृथक् पृथक् सब बतलाता हूँ,

उनको भी सुन पार्थ सुजान ॥२९॥
भय अरु अभय प्रवृत्ति निवृत्ति,
इसी भांति से कार्य अकार्य।
बंध, मोक्ष को जाने जिससे,
ऐसी मति सात्त्विक है आर्य। ३०॥
जिसके द्वारा धर्म पाप औ-
कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य यथार्थ।
ठीक ठीक नहिं जाने ऐसी,
मति को राजस जानो पार्थ ॥३१॥
तम से आवृत होकर जो मति,
लेवे धर्म पाप को मान।
सब विषयों को उलटा जाने,
बुद्धि तामसी उसको जान ॥३२॥
जिस निश्चल धृति द्वारा मन अरु,
प्राण, इन्द्रियों के व्यापार।

योग सहित धारण करता वह,
सात्विक धृति है पाण्डुकुमार॥३३॥
जिससे अर्जुन धारण करता,
धर्म, अर्थ अरु काम सुजान।
औ प्रसंग से फल भी चाहे,
ऐसी धृती राजसी जान॥३४॥
जिससे शोक, गर्व, निद्रा, पुनि,
भय, विषाद को पार्थ सुजान?
छोड़ न सकता दुष्टमती वह-
धृती तामसी है यह जान॥३५॥
भरतश्रेष्ठ! अब सुन लो मुझसे,
तीन भांति के सुख की बात।
कर अभ्यास रमें जिसमें फिर,
सब दुःखों से भी छुट जात॥३६॥
लगे आदिमें विष सा जो सुख,

तथा अन्त में सुधा समान ।
जो निज मतिकी प्रसन्नतासे,
होता वह सुख सात्विक जान॥ ३७॥
इन्द्रिय विषय योग से पहले,
जो अमृत सम भाता है ।
तथा अन्तमें विष सा हो वह,
राजस सुख कहलाता है ॥३८॥
जिससे आदि अन्त में प्राणी,
मोह ग्रसित हो जाता है ।
हो प्रमाद, निद्रा, आलस से,
वह तामस कहलाता है ॥३९॥
भूमि, स्वर्ग में या देवों में,
ऐसा कोई जीव कहीं ।
सत, रज, तम इन प्रकृति गुणोंसे,
किसी भांति भी बचा नहीं ॥४०॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र पुनि,
इन सबके भी कर्म सुजान।
प्रकृति सिद्ध निज निज गुण द्वारा,
पृथक् पृथक् हैं ऐसा जान ॥४१॥
शम, दम, तप औ क्षमा, सरलता,
तन मनकी शुचिता अरु ज्ञान।
आस्तिकपन, बिज्ञान, कर्म ये–
ब्राह्मण के स्वाभाविक जान॥४२॥
तेज, शूरता, धैर्य, चतुरता,
तथा युद्ध में डटना पार्थ ?
दान और सामर्थ्यभाव ये,
क्षत्रिय के हैं कर्म यथार्थ ॥४३॥
गोरक्षा, व्यापार, कृषी ये,
वैश्य कर्म स्वाभाविक जान।
सब वर्णों की, सेवा करना,

शूद्रों का है कर्म प्रधान ॥४४॥
निज निज कर्म निरत हो मानव,
सभी सिद्धि पाते हैं तात ?
ज्यों निज कर्म निरत हो सिद्धी,
पाते हैं सुन वह भी बात ॥४५॥
जिससे प्रकटे जीव चराचर,
जिससे सब कुछ है यह व्याप्त।
उसे पूज निज कर्मों से नर,
करता है सिद्धी को प्राप्त ॥४६॥
निर्गुण भी निज धर्म श्रेष्ठ है,
हो परधर्म भले गुणवान।
अपने स्वाभाविक कर्मों को,
करते पाप न लहे सुजान ॥४७॥
दोष युक्त भी स्वाभाविक निज,
कर्म न त्यागे कभी सुजान।

अग्नि धूमकी भांति कर्म सब,
ढके हुये दोषों से जान ॥४८॥
हो आसक्ति रहित सबमें औ-
आत्मजयी निर-इच्छावान ।
पाता है संन्यास योग से,
निष्क्रिय परम सिद्धि मतिमान॥४९
करके प्राप्त सिद्धि को जैसे,
करता है जन ब्रह्म-प्राप्ति ।
वह संक्षेप रूप से मुझ से,
जानो जो है ज्ञान समाप्ति ॥५०॥
धैर्य सहित मनको वशमें कर,
होकर परम शुद्ध मतिमान ।
शब्दादिक विषयों को तजकर,
राग द्वेष का करके हान ॥५१॥
तन, मन, वाणी संयत करके,

मितभोजी सेवे एकान्त ।
आश्रय कर वैराग्य सदा जो,
ध्यान योग में रमे नितान्त ॥५२॥
काम, क्रोध अरु गर्व, परिग्रह,
अहंकार पुनि बल को त्याग ।
ममता रहित शान्त हो करके,
ब्रह्म रूप होना बड़भाग ॥५३॥
हो प्रसन्न मन ब्रह्म रूप वह,
जाने सब को एक समान ।
शोक न करे, न इच्छा रक्खे,
पावे मेरी भक्ति प्रधान ॥५४॥
जितना या जो कुछ भी हूँ मैं,
जाने मुझे भक्ति से पार्थ ?
इस प्रकार फिर जान तत्वसे,
मुझ में करे प्रवेश यथार्थ ॥५५॥

मेरा आश्रय लेकर ऐसे,
करता है जो सारे काम ।
मेरी प्रसन्नता से पाता,
नित्य तथा अविनाशी धाम ॥५६॥
मेरे हुआ परायण, मन से-
सब कर्मों को मुझ में त्याग ।
बुद्धि योगका आश्रय ले नित,
मेरा चिन्तन कर बड़भाग ॥५७॥
मुझ में चित दे मम प्रसाद से,
तर जायेगा सारे कष्ट ।
अहंकार वश नहीं सुनेगा-यदि,
तो हो जायेगा नष्ट ॥५८॥
अहंकार से माने जो तू,
नहीं लड़ूँगा ऐसी बात ।
यह तेरा झूठा निश्चय है,

तुझे प्रकृति जोड़ेगी तात ॥५६॥
अपने स्वाभाविक कर्मों के,
बन्धन में बंध करके आर्य!
जिसे मोह से नहीं चाहता,
विवश करेगा वह ही कार्य ॥६०॥
सब जीवों के हृदय देश में,
अर्जुन रहते हैं भगवान।
माया से कठपुतली जैसे,
सब को भ्रमा रहे यह जान ॥६१॥
सर्व भाव से केवल उसके,
शरणागत हो पार्थ सुजान?
पावेगा उसके प्रसाद से,
परम शान्ति औ नित्य स्थान॥६२॥
यह अत्यन्त गोप्य जो मैंने,
तुझे बताया ज्ञान यथार्थ।

सब प्रकार से इसे सोच कर,
जैसी इच्छा हो कर पार्थ ॥६३॥
सब से गोपनीय सुन मेरा,
फिर भी उत्तम वचन सुजान ?
तू मुझको अति प्रिय है इससे,
कहता हूँ तेरा हित जान ॥६४॥
हो मम भक्त, जुटा मन मुझमें,
मुझे नमन कर पूजा सुजान ?
मुझे पायगा सत्य प्रतिज्ञा,
करता हूँ तुझको प्रिय जान ॥३५॥
सब धर्मों का परित्याग कर,
हो जा मेरी शरण यथार्थ ।
शोक न कर मैं सब पापों से,
तुझ को मुक्त करूँगा पार्थ ॥६६॥
तप औ भक्तिरहित पुरुषोंको,

यह न बताना मेरा ज्ञान ।
अथवा सेवा नहीं करे जो,
हो या मम निन्दक अज्ञान ॥६७॥
जो इस गुह्य ज्ञान को मेरे-
भक्तों में बतलायेगा ।
मेरी परा भक्ति करके वह,
निश्चय मुझ को पायेगा ॥६८॥
उससे मुझको सब पुरुषों में,
कोई भी प्यारा मत जान ।
आगे भी उससे प्रिय कोई,
होगा जग में नहीं सुजान ॥६९॥
धर्म युक्त संवाद हमारा,
इसे पढ़ेगा जो मतिमान ।
ज्ञान-यज्ञ से, उससे पूजित-
हूँगा, यह मेरा मत जान ॥७०॥

दोष बुद्धि तज श्रद्धा से जो,
इसको सुनता भी है पार्थ ।
वह भी मुक्त हुवा शुभधर्मी-
लोकों को हो प्राप्त यथार्थ ॥७१॥

क्या एकाग्र चित्त से तूने,
इसको श्रवण किया है पार्थ ?
क्या अज्ञान जनित अब तेरा,
मोह नष्ट हो गया यथार्थ ॥७२॥

अर्जुन बोले-

नाथ ! आपकी प्रसन्नता से,
पाई स्मृति, मिटा अज्ञान ।
जो कुछ कहो करूँगा अब मैं,
संशय रहित हुवा भगवान ॥७३॥

संजय बोले-

पार्थ महात्मा वासुदेव का,

यह मैंने अद्भुत संवाद।
सुना रोम हर्षाने वाला,
(जिससे होता है आह्लाद) ॥७४॥
इस अति गुह्य योग को मैंने,
व्यास कृपा से सुन पाया।
योगेश्वर भगवान कृष्ण ने,
साक्षात् जिसको गाया ॥७५॥
राजन्! केशव अर्जुन का यह,
पुण्य रूप अद्भुत संवाद।
बार २ होता हूँ हर्षित,
जब २ भी करता हूँ याद ॥७६॥
अति अद्भुत उस हरि स्वरूपको,
राजन्! जब २ करता याद।
मुझे बड़ा विस्मय*होता है, (*आश्चर्य)
बार बार होता आह्लाद ॥७७॥

जहां कृष्ण योगेश्वर हों औ,
जहां धनुर्धर पार्थ सुजान ।
लक्ष्मी, विजय, विभूति वहीं पर,
स्थिर-नीती यह मेरा ज्ञान ॥७८॥

* समाप्तम् *

मुद्रक—भूमानन्द ब्रह्मचारी 'भक्ति प्रेस' आश्रम,
रामपुरा रेवाड़ी।

आश्रम के उद्देश्य

१. श्रीभगवान् की भक्ति का प्रचार करना।

२. गोरक्षा और उसके लिये गोचर भूमि छुड़वाना।

३. जंगलों में वृक्ष लगवाना और उसके बीच में जलाशय बनवाना।

४. शिक्षा का प्रचार करना जिसमें मनुष्य मात्र विद्यालाभ कर सकें और प्राचीन प्रथा को फिर प्रचलित करना।

५. बीमारियों के अवसर पर दवाई बांटना।

६. आस पास के ग्रामों में परस्पर के झगड़े और वैमनस्य मिटा कर शान्ति और प्रेम बढ़ाना।

७. सब संस्थाओं में भगवद्भक्ति और धर्म का भाव जागृत करना।

८. राजा और प्रजा सब ही का हित चिन्तन करना।

आश्रम की पुस्तकें

	मूल्य	डाक खर्च
१ सार संग्रह	।)	⅁॥
२ भक्ति चिन्तामणि	≡)	=)॥
३ शब्द सदाचार संग्रह	≡)	⅁
४ भक्ति ज्ञानयोग संग्रह	=)॥	⅁
५ ज्ञान धर्मोपदेश	⅁॥।	)॥।
६ मनुस्मृतिसार	≡)।	⅁॥
७ सदाचार	⅁	)॥।
८ शब्द संग्रह (गुटका)	=)	⅁
९ आश्रम का इतिहास	⅁	)॥।
१० श्री भगवद्गीता	॥=)	।)
११ श्री भगवद्गीता-मूलमात्र नित्यपाठ		⅁॥
१२ वेदोपनिषद्	=)॥	⅁॥
१३ भाषा फक्किकाप्रकाश	।)	⅁॥
१४ अष्टोत्तरशतमन्त्रमाला	⅁	)॥।
१५ श्री गीतामञ्जरी	।)	⅁।
१६ गीतामञ्जरी-मोटे अक्षरों की	।=)	⅁॥
१७ गायत्री	मूल्य प्रेम	
१८ कीर्तन ध्वनि	,, ,,	

तकें

डाक खर्च
⅁॥
⅁॥
⅁
⅁
⅃॥
⅁॥
⅃॥
⅁
⅃॥
⅄
⅁॥
⅁॥
⅁॥
⅃॥
⅁
⅁॥

नमूना

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

जब जब धर्म क्षीण होता है,
बढ़ता है पापों का भार ।
तब तब ही भारत होता है,
धर्म हेतु मेरा अवतार ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

सब धर्मों का परित्याग कर,
होजा मेरी शरण यथार्थ ।
शोक न कर मैं सब पापों से,
तुझको मुक्त करूँगा पार्थ ॥